[illegible] विरचितम्

अनङ्गसञ्जीवनम्

'भाण'-संज्ञकं रूपकम्

❖

सम्पादकः

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी

*

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

प्रयाग

श्रीकालनाथ-विरचितम्

अनङ्गसञ्जीवनम्

'भाण'-संज्ञकं रूपकम्

(एकमात्रमुपलब्धया मातृकया संशोध्य सम्पादितम्)



सम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी



गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्
चन्द्रशेखर आजाद पार्क
प्रयाग-२

प्रकाशक -

डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, डी०लिट्०
प्राचार्य
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
चन्द्रशेखर आजाद पार्क
इलाहाबाद-२

मूल्य -

978-93-83135-74-5

अक्षरसंयोजना -
श्री विनोद कुमार द्विवेदी

मुद्रक -

अलका कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स
१०८/५ छोटा बघाड़ा
इलाहाबाद-२

RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN
(Under the auspices of the Ministry of H.R.D.)
New Delhi

Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapitha
TEXT SERIES

Chief Editor
Prof. G.C. Tripathi
Principal



Vol. No. **51**

Anaṅgasañjīvanam

by

Kālanātha Bhaṭṭa

(A dramatic work of the Bhāṇa variety)



Edited by
Gaya Charan Tripathi
Principal



Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapitha
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad-211 002

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्
(केन्द्रीय-शिक्षामन्त्रालयस्याङ्गभूतम्)
देहली



गङ्गानाथझा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-ग्रन्थमाला

प्रधानसम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी



एकपञ्चाशत्तमं प्रसूनम्



श्रीकालनाथभट्टविरचितम्

॥ अनङ्गसञ्जीवनम् ॥

सम्पादकः
डॉ० गयाचरण त्रिपाठी



गङ्गानाथझा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठम्
प्रयागः

श्रीकालनाथविरचितम्

अनङ्गसञ्जीवनम्

⌘

पुरोवाक्

सामोदमस्माभिः सम्प्रति साहितीरसिकानां विद्वत्तल्लजानां शयकुशेशयेषूपस्थाप्यते कविशिरोमणिश्रीकालनाथभट्टविरचितम् "अनङ्गसंजीवना"ख्यमिदमैदम्प्राथम्येन प्रत्यग्रप्रकाशितं रूपकरत्नम् । प्रयागतोऽकस्मादुपलब्धाऽद्वितीयास्य काचिन्मातृका सरसां प्रसादमाधुर्यादिगुणसम्पन्नां कृतिमेनां प्राकट्यमानयत् । कियन्त्येतादृशानि ग्रन्थरत्नान्याभारतं विकीर्णानि स्वस्वस्वामिनामुपेक्षावृत्तिं सहमानानि क्रमशो वम्रीमूषकादीनां भक्ष्याणि संजायन्ते, यदि वा शनैः-शनैरररिवाचरत्यस्मद्देशीयजलवायौ, जीर्णानि जर्जराणि च भूत्वा जलसमाधिं समाप्नुवन्तीति न जानीमहे। "यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं विनाशे संशयः कुतः" इत्युक्तिं विभाव्य भगवतो भूतभावनस्य कृपैवास्य ग्रन्थस्येदानीमप्यवस्थितौ कारणमिति निश्चिनुमः। ग्रन्थस्य मातृका १५४९ तमे वैक्रमे वर्षे लिखिता सतीदानीं पञ्चशतेभ्योऽपि वर्षेभ्यः प्राचीनतरा।

कृतिरियं रूपकस्य दशसु भेदेषु "भाण"संज्ञको भेदः। अत्र वैशिकजीवनस्य, वेशवाट्यां प्रचलतो वैविध्यपूर्णक्रियाकलापस्य, गणिकानां दैनन्दिनव्यापारस्य च मनोरमं चित्रणं सहृदयानां मनांसि हठादेवावर्जयति। भाषाप्यतिसरला, सरसा, प्रसन्ना च। श्रीकालनाथस्य स्थितिकालः ईशवीयैकादशशताब्दीतस्त्रयोदशशताब्दीं यावदासीदित्यहमनुमिनोमि। एतद्विषये विस्तरस्तु भूमिकायामवलोकनीयः।

पाठसमीक्षात्मकानि कानिचिट्टिप्पणान्यस्माभिः प्रथमतः पृष्ठानामधोभागे आंग्लभाषया प्रदत्तान्यासन्। तेषां परिवर्तनमनपेक्ष्यं मत्वा तानि यथावत्तथैव मुद्रितानि। यदि केषाञ्चिद्विपश्चितामनेन कारणेन किमप्यसौविध्यं स्यात्तर्हि क्षन्तव्योऽयं जनः ।

आशासे यत् सहृदयाः सुधियोऽस्य लघुकायस्य भाणस्य परिशीलनेनामन्दानन्दमनुभूयास्मभ्यं स्वीयैराशीर्वचोभिः सभाजयिष्यन्तीति --

विदुषामाश्रवस्य

स्वातन्त्र्यदिवसः, २००१ ई०

त्रिपाठिनो गयाचरणस्य

प्रयागस्थस्य

भूमिका

पिछले तीन सहस्रवर्षों की अवधि में लौकिक संस्कृत साहित्य में कितने ग्रन्थ रचे गये, इसका सही आकलन शायद ही कभी हो पाए। आश्चर्य तो यह है कि विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा हमारे बड़े-बड़े ग्रन्थागारों की होली जलाने, मूषक-दीमक आदि विनाशकारी जीवों एवं कीटों द्वारा सहस्रों ग्रन्थों के भक्षण कर जाने और उष्णता-आर्द्रता आदि के मौसमी प्रकोप से असंख्य ग्रन्थों के जीर्ण होकर नष्ट हो जाने के उपरान्त भी आज इतनी अधिक संख्या में हस्तलेखों के रूप में संस्कृत ग्रन्थ बचे हुए हैं कि उनके सम्यक् संकलन, संपादन एवं प्रकाशन में अभी वर्षों लगेंगे।

ऐसे ही अकस्मात् 'अनंगसंजीवन' नामक यह ग्रन्थ एक दिन प्रकाश में आ गया। प्रयाग के एक पुराने मुहल्ले में स्थित श्रीशिवशर्मा आयुर्वेदिक औषधालय के युवा स्वत्वाधिकारी एकमात्र यही एक ग्रन्थ लेकर सन् १६८६ में विद्यापीठ आए और इसके विक्रय की इच्छा प्रकट की। उनकी पारिवारिक ग्रन्थ संपदा में से यही एक मात्र ग्रन्थ सुरक्षित बचा था। ग्रन्थ को मैंने लेकर देखने के लिये रख लिया किन्तु उस समय विद्यापीठ की आर्थिक विपन्नतावश क्रय नहीं कर पाया। फिर मुझे एक वर्ष के लिये अतिथि-आचार्य के रूप में कनाडा जाना पड़ा। वहाँ से लौटने पर १६६१ में किसी प्रकार अर्थ का प्रबन्ध करके ग्रन्थ को विद्यापीठ पुस्तकालय के लिये खरीदा गया। सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर यह एक अज्ञातनामा लेखक की साहित्यिक गुणों से पूर्ण, एवं अद्यावधि अप्रकाशित, कृति निकली जिसका प्रकाशन संस्कृत के विद्वानों हेतु अत्यन्त वाञ्छनीय समझा गया। इस प्रकार अब यह कृति आपके समक्ष है।

'अनंगसञ्जीवन' रूपक के दस भेदों में *भाण* की कोटि में आता है। भाण संज्ञक रूपक में मञ्च पर सदैव केवल एक ही पात्र रहता है जिसे सामान्यतः विट कहते हैं। रूपक में घटनाओं का वर्णन होता है, पात्रों का चित्रण होता है, यहाँ तक कि पारस्परिक वार्तालाप भी होता है; किन्तु इस सम्पूर्ण क्रियाकलाप को विट अकेला ही अपनी चेष्टाओं एवं सूक्ष्म तथा सजीव वर्णन के द्वारा व्यक्त

करता चलता है। दूसरे के द्वारा कहे गये वाक्य को विट एक प्रश्नवाचक चिह्न लगा कर पहले 'दुहराता' है और फिर स्वयं उसका उत्तर देता है। ''भाण'' शब्द ''भण्'' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ बोलना या वर्णन करना (to narrate) होता है। अतः जिस रूपक में केवल वाचिक अभिनय हो और अन्य तीन (आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य) या तो अनुपस्थित हों या गौण हों, वह भाण है।

अभी तक संस्कृत में जितने भाण मिले हैं उनमें से अधिकांश वैशिक जीवन एवं गणिकाओं के क्रिया-कलापों से ही संबद्ध हैं, यद्यपि इस प्रकार कोई बन्धन नाट्यशास्त्रीय आकर-ग्रन्थ नहीं लगाते। हाँ, यह अवश्य है कि भाण की कथावस्तु समाज में विद्यमान धूर्तवर्ग (पुरुष या स्त्री) से ही संबन्धित होती है। धनञ्जय के दशरूपक के अनुसार भाण की परिभाषा निम्नवत् है–

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रानुवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः।।
संबोधनोक्तप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद् वीरश्रृंगारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः।।
भूयसा भारतीवृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम्।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च।।

–दशरूपकम् ३/४६-५१

''भाण की विषयवस्तु कल्पित होती है, इसमें प्रायः धूर्तों के चरित्र का वर्णन होता है जो स्वयं के अथवा अन्य के अनुभव पर आधारित हो सकता है। श्रृंगार एवं वीर रसों की प्रधानता रहती है। कोई विट या पण्डित इसकी घटनाओं का वर्णन 'आकाशभाषित' को आधार बना कर उक्ति-प्रत्युक्ति के रूप में करता है। इसमें एक ही अंक होता है (अर्थात् बीच में कहीं भी यवनिका-पात नहीं होता), भारतीवृत्ति होती है, मुख एवं निर्वहण संधियाँ होती हैं तथा लास्य-नृत्य के सभी दस अंगों से यह मण्डित रहता है।''

दशरूपक की उक्त परिभाषा इस भाण पर सम्पूर्णतया लागू होती है। सामान्यतः अंगी श्रृंगार रस से आपूरित होने पर भी वीररस की ओजस्विता

श्लोक ४६ एवं ५० में दर्शनीय है। श्लोक ४० से ४६ तक गीत-नृत्य आदि का मनोरम चित्रण और श्लोक ३६ से ३८ में कौलिकों के आचरण के वर्णन में हास्य तथा भयानक की सृष्टि हुई है। श्लोक ३२ में कालिका के सम्मुख दी जाने वाली छागबलि एवं श्लोक ३४ में भैरव का चित्रण भी हृदय में भयावहता के साथ भयानक रस उत्पन्न करते हैं।

कथावस्तु का सारसंक्षेप

भाण एक छोटा एकांकी रूपक है, अतः इसकी कथावस्तु बहुत लम्बी नहीं होती। अनंगसंजीवनम् की कथावस्तु भी मूलतः अत्यन्त संक्षिप्त है। मलयकेतु नाम के किसी विट का 'चन्द्रसेन' नामक एक अभिन्न मित्र है। इसकी 'कुमुद्वती' नामक प्रेयसी है। दोनों में किसी कारण से प्रणय-कलह उत्पन्न हो जाता है। मलयकेतु से प्रार्थना की जाती है कि वह जाकर दोनों का मनमुटाव दूर कर उनमें फिर सौहार्द उत्पन्न कराए। स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों की प्रणय-प्रकृति के व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष से सुपरिचित, एवं ऐसे कार्यों में पूर्ण दक्ष, मलयकेतु को यह कार्य उतना ही सरल लगता है जितना हनुमान् जी से कोई सामान्य सरोवर लाँघने की प्रार्थना। वह इस पुण्य कार्य को सम्पादित करने का बीड़ा लेता है और घर से निकल पड़ता है। नगर की अनेक सड़कों से होता हुआ, अनेक गणिकालयों-वेश्यागृहों, तथा मन्दिरों आदि में थोड़ा-थोड़ा समय बिताता हुआ वह लगभग सायंकाल कुमुद्वती के भवन में पहुँचता है, जहाँ उसने एक निश्चित समय पर अपने मित्र चन्द्रसेन को पहुँचने के लिये कहा है। वहाँ दोनों को पृथक्-पृथक् समझा कर और फिर दोनों को मिलवा कर वह उनको पारस्परिक शिकायत दूर करने का अवसर देता है और दोनों के मधुरमिलन से भाण समाप्त होता है।

मलयकेतु के भ्रमण में प्रसंग में मुख्यतः वेश्यालयों एवं वहाँ रहनेवाली नारियों की विभिन्न गतिविधियों तथा उनके पास आने वाले पुरुषों के चरित्र का बड़ा सजीव चित्रण हुआ हैं। प्रसंगवश कालिकादेवी के मन्दिर का और वहाँ बलि दिये जाने वाले छागों का भी बहुत उत्तम चित्रण है।

मलयकेतु अपनी यात्रा उस गली से प्रारम्भ करता है जिसमें इत्र, फुलेल, गुलाबजल, केवड़ा आदि सुगन्धित वस्तुओं की दूकानें हैं। रूपक में इसे 'सौगन्धिकवीथी' कहा गया है। उसके बाद वह वेश्याओं की वीथी (विशवीथी) में प्रवेश करता है जिसे वह 'विषवीथी' की संज्ञा देता है– किन्तु एक ऐसी विषवीथी जो रसिक जनों के लिये संजीवनी' का काम करती है। उसकी ऊँची अट्टालिकाओं और उनके बुर्जों पर स्थापित स्वर्णकलशों का उल्लेख हुआ है। वीथी के सभी भवनों के वातायनों से विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों की गन्ध-वाष्प निकल रही है। वेश्याओं के गृहों के प्रवेशद्वार पर झाड़-बुहार कर, चन्दन से लीपने के पश्चात् रँगोली ('रंगवल्ली') सजाई जा रही है।

एक दूसरी ओर दृष्टिपात करने पर उसे पद्मावती की पुत्री कलावती के दर्शन होते हैं जो इस समय ऋतुकाल में है। उसकी सखी ने सँवारने के लिए उसके लम्बे घुँघराले बाल खोल कर पीठ पर डाल दिये हैं तो घर का पालतू मोर उनको देख कर मेघ की शंका में उसके पास आ जाता है, जिससे वह सकुचा कर उन्हें फिर बाँध लेती है। आगे चलने पर मालती का भवन मिलता है जिसे वह अपने मित्र मधुकर का सन्देश देना चाहता है। किन्तु मालती इस समय अपने शरीर को लम्बे कपड़े से ढक कर, अग्नि में अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थ डाल कर, उनके सुगन्धित धुएँ से अपने बालों को आधूपित कर रही है। अतः वह लौट आता है और अपने मार्ग पर आगे बढ़ता है

आगे चल कर उसे मन्दारमाला की सखी मदयन्तिका मिलती है जो उसे हाथ के संकेत से पास बुला रही है। मन्दारमाला और उसके प्रेमी मकरन्द में द्यूतक्रीड़ा के एक विशिष्ट पण (चुम्बनों की संख्या एवं प्रक्रिया) को लेकर कुछ मनमुटाव उत्पन्न हो गया है जो हमारे विट मलयकेतु को दूर करना है। बड़ी चतुरता से वह दोनों से संभाषण करते हुए और दोनों ही के मन की बात रखते हुए वह उनके प्रणय-कलह का समाधान कर देता है। कुछ और आगे बढ़ने पर उसे अनंगमञ्जरी नामक एक अन्य वेश्या दिखाई देती है जो इस समय अपनी हथेली पर मुख रखे हुए धीरे-धीरे आँसू बहाती हुई अत्यन्त दुःखी है। उसकी सहेली मञ्जीरिणी उसे समझा रही है। पूछने पर पता चलता है कि अवन्ती (मालवा) का कोई वसन्तदत्त नामक व्यापारी उसका प्रेमी है। वह भी उसे बहुत चाहती है। अभी हाल में वेश्यालय की स्वामिनी वृद्धा 'माता' ने

उससे बहुत से धन की माँग कर डाली, जिससे खिन्न हो कर उसने स्वयं तो आना बन्द कर दिया है पर अभी भी अनंगमञ्जरी के लिये कुछ न कुछ धन और उपहार भेजा करता है। किन्तु अनंगमञ्जरी उसके न आने से दुःखी है और उसका आक्रोश अपनी 'माता' पर है। मलयकेतु वेश्या के इस स्वाभाविक और सच्चे प्रेमसे बहुत प्रभावित होता है और उसे सान्त्वना देता हुआ कहता है कि तुम थोड़े दिन और धैर्य रखो, आखिर इस वृद्धा 'माता' का जीवन ही अब कितना और शेष है ! उसके बाद तुम्हारे पैरों की यह बेड़ी (शृंखला) समाप्त हो जाएगी।

इस बीच उसे एक ओर से कुछ कोलाहल सुनाई पड़ता है तो वह उस ओर बढ़ता है। देखता है कि सामने बरगद के एक वृक्ष पर झूला पड़ा हुआ है जिस पर श्रीकण्ठ आदि विट विलासवती नामक सुन्दरी वेश्या को इतने वेग के साथ झूले को खींच-खींच कर झुला रहे हैं कि उसकी भय एवं हर्ष मिश्रित चीख निकल रही है जिस पर वे लोग तालियाँ बजा-बजा कर हँस रहे हैं। आगे चलता है तो उसे दर्दुरिका नामक एक अन्य प्रौढा वेश्या भूमि पर लोटती एवं रोती हुई दिखाई पड़ती है, जिसे कलहंस नामक एक युवक ने अपने ढंग से 'शिक्षित' (दण्डित) किया है क्योंकि उसे कलहंस का अपनी पुत्री कनकरेखा से गुप्त प्रेम पसन्द नहीं है। कलहंस से बात करके समस्या का समाधान करने में देरी होगी, अतः वह आगे चल देता है। इस बीच दुपहर हो रही है। वेशवनिताओं ने अपने कमरों के दरवाजों तथा खिड़कियों पर खस, नागर-मोथा, मृणाल और जटामासी आदि से संयोग से बनी टटियाँ डाल कर अँधेरा कर रखा है। कवि की कल्पना है कि अँधेरा सूर्य की किरणों से डर कर अपनी मित्र इन नारियों के पास आकर छिप गया है। ये स्त्रियाँ अन्धकार की कृतज्ञ हैं, क्योंकि नैश-अभिसार के समय वह उनको छिपा कर उनकी सहायता करता है, अतः इस समय वे उसे उसके शत्रु सूर्य से बचा रही हैं !

और आगे बढ़ने पर मलयकेतु को मेवाड़ देश का एक दीन अश्वव्यापारी दिखाई देता है, जिसके शरीर पर कौपीनमात्र शेष है। वेश्याओं ने उसका सर्वस्व छीनकर उसे बाहर निकाल दिया है। वह इस दुर्भायशाली के सामने पड़ कर उसे लज्जित नहीं करना चाहता, अतः मुख्य सड़क छोड़ कर एक

गली में मुड़ जाता है जो आगे चल कर उसी सड़क पर मिल जाती है। किन्तु यहाँ पर एक निर्लज्ज, प्रौढा वेश्या ('ग्राम्यनटी') हँसती हुई उसका उत्तरीय पकड़ कर उसे रोकने का प्रयास करती है, जिससे वह किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से जान छुड़ा पाता है।

धूप और परिश्रम से क्लान्त वह एक वकुलवृक्ष की छाया में थोड़ा विश्राम करता है। इसी समय उसे बगल के कालिका-मन्दिर से मृदंग-वाद्य के तालों की थाप के साथ मँजीरे की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है जिससे उसे लगता है कि वहाँ गीत-नृत्य आदि का कोई कार्यक्रम हो रहा है। वह कुतूहल से उधर चल देता है, किन्तु पहले तो वह मन्दिर प्राङ्गण का दृश्य देखकर घबरा जाता है। सैकड़ों की संख्या में बकरों की बलि वहाँ दी जा रही है। पहले बकरों के माथे पर लाल चन्दन, अक्षत और पुष्प लगाए जाते हैं और फिर यूप में उनकी गर्दन फँसा कर तलवार से उनका गला काटा जाता है। मन्दिर की रक्तवर्ण पताका एवं उसी परिसर में स्थापित सर्पवेष्टित आनन्दभैरव की मूर्ति का भी उल्लेख हुआ है। उसी मन्दिर के प्राङ्गण में कौल-कापालिक लोगों के द्वारा किसी नये व्यक्ति को अपने संप्रदाय में दीक्षित करने का कार्यक्रम भी चल रहा है। ये लोग नर कपाल के चषक लेकर उसमें ताड़ी की मदिरा भरभर कर पी रहे हैं, और काली को पशुबलि प्रदान कर रहे हैं। नव-दीक्षित का नाम धनदत्त है। वह जहाज़ों पर माल लादकर समुद्रमार्ग के व्यापार करने वाला एक वणिक् है। मदयन्तिका नामक वेश्या ने जब उसका सर्वस्व लेकर अपने यहाँ से निकाल दिया तो उसने चोरों की सहायता से अपनी ही पत्नी के गहने चुरा लिये, किन्तु द्यूतशाला में दाँव पर लगाने पर, आरक्षियों ने वे पहचान लिये। इस अपराध के लिये उसे नगर के प्रशासक द्वारा प्राणदण्ड दिया जाने वाला था किन्तु उसी की पत्नी ने आकर अपना वाद वापिस लेकर उसे छुड़ाया। अब वह घर-परिवार-समाज से तिरस्कृत होकर कौल-सम्प्रदाय में दीक्षित होने आया है। इसमें नाथ सम्प्रदाय के नयनाथ आदि कौलों का सूखी गोल लौकी से बने चषकों में भर भर कर शराब पीने, उनके बेसुरे गाने, नाचने, विद्रूप हँसने तथा विचित्र चेष्टाएँ करने का उल्लेख हुआ है। उनके साथ की कोई 'कामयोगिनी' हिरन के सींग को काहल की भाँति प्रयुक्त करके बजाती हुई,

इन लोगों को अपनी धुन पर नचा और थिरका रही है। देखते ही देखते शराब के नशे में चूर ये कापालिक एक दूसरे के सिर पर अपने अलावु-चषकों से प्रहार करके उनको तोड़ डालते हैं, अप्रासंगिक प्रलाप करने लगते हैं, अपने चटाई के आसनों को फाड़ कर उसके टुकड़े इधर उधर फेंक देते हैं, और एक दूसरे से लड़ते हुए गुँथ जाते हैं। हमारे कथानायक को आश्चर्य होता है कि ऐसे पाखण्डी लोगों पर भी धनदत्त की अटूट श्रद्धा आखिर कैसे है !

मलयकेतु मन्दिर के गर्भगृह में जाकर भक्तिपूर्वक कालिका देवी को एक श्लोक बोलते हुए प्रणाम करता है, जिसमें वह उन्हें हिमालय की पुत्री, शंकर की अर्धाङ्गिनी, संसार-सागर से तारने वाली और शिखरपति-वंश (जिसके संरक्षण और तत्त्वावधान में कालनाथ का यह रूपक रचा और खेला गया) की कुलदेवी कह कर संबोधित करता है (श्लोक ३६)। इसी बीच मन्दिर की कलावती आदि प्रधान नर्तकियाँ अपने-अपने वाद्ययन्त्रों के साथ वहाँ आ जाती हैं और देवी के आगे नृत्य प्रारंभ हो जाता है। कोई मुरज बजा रही है, तो कोई मुरली, कोई काहल, तो कोई केवल ताल दे रही है, किसी के हाथ में मँजीरा है तो किसी के हत्था (रावणहत्था/सारंगी), कोई नान्दी पढ रही है तो कोई नृत्य हेतु अपनी करधनी कस रही है। थोड़ी देर के लिये सारी नर्तकियाँ एक साथ निष्पन्द खड़ी रहती हैं और धीरे-धीरे लय पूर्वक मञ्जुल गति से दो तीन बार घूम कर ब्रह्मा जी को रंगमञ्च के मध्य में पुष्पाञ्जलि अर्पित करती हैं। फिर जो नृत्य प्रारंभ होता है तो दर्शक अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं। कोई शब्दों को अभिनय में उतारती है, तो कोई अर्थ को, और तीसरी रस का अभिनय करती है। प्रत्येक को पृथक्-पृथक् देखकर उसका पूर्ण आनन्द लेने के लिये वस्तुतः इन्द्र की भाँति एक सहस्र नेत्र चाहिये। धीरे धीरे नर्तकियाँ थक जाती हैं। तब एक नर्तकी एक स्तम्भ का सहारा ले कर खड़ी हो जाती है, एक हाथ से ढीली पड़ गई अपनी करधनी को पकड़ती है और दूसरे से अपनी साड़ी के पल्लू (आँचल) से वह अपने ऊपर थोड़ी हवा करके पसीना सुखाती है, इसके बाद फिर नाचना प्रारंभ कर देती है। एक दूसरी का अन्तर्वस्त्र इतना भीग गया है कि वह साड़ी का आँचल अपनी ठोढ़ी से दबा कर वक्षस्थल को थोड़ा ढकती हुई, पीछे हाथ करके अपनी कञ्चुकी खोल रही

है। इन ललित ललनाओं का लास्य देखते-देखते मलयकेतु का चित्त उसमें इतना रम जाता है कि वह थोड़ी देर के लिये अपने मित्र का कार्य भी भूल जाता है।

दिन एक प्रहर मात्र अवशिष्ट है। अब अपराह्ण हो चुका है। उसे शीघ्रता करनी है। आगे बढ़ता है तो उसे नीलकमल के समान नेत्रवाली शृंगारमञ्जरी दिख जाती है जो अपने तोते को पढ़ा रही हैं। वह जाकर उसकी चौकी के आधे भाग पर बैठ जाता है और उस शुक के भाग्य को सराहता है जिसे प्रतिदिन शृंगारमञ्जरी के हाथ का स्पर्श करने का सौभाग्य मिलता है और जो निरन्तर शृंगारमञ्जरी के मुख का अवलोकन करते रहने का सुख प्राप्त करता है। बार बार सिखाने और प्यार से कहने पर भी जो बोलता नहीं, क्योंकि वह निरन्तर शृंगारमञ्जरी की कोमल वाणी ही सुनते रहना चाहता है, आदि। वास्तव में परोक्षतः से यह शुक की नहीं, अपितु शृंगारमञ्जरी की स्तुति है।

शृंगारमञ्जरी से मलयकेतु का विशेष लगाव है। वह उसका मुख चूमता है, किन्तु अनुभव करता है कि वह किसी संकोच में है और स्वाभाविक तथा सहज नहीं हो पा रही। वह समझ लेता है कि कोई अन्य व्यक्ति पास में होगा। इस पर वह लौटते समय उससे मिलने का वादा कर के चल देता है।

आगे चलने पर बाँई ओर वह कुवलयमाला को गेंद से खेलते हुए देखता है। वह गेंद को भूमि पर पटक-पटक कर खेल रही है। मलयकेतु की कवि-कल्पना है कि वह गेंद को इसलिये पटक-पटक कर मार रही है क्यों कि गेंद उसके सुन्दर, गोल, स्तनों की बराबरी करने की धृष्टता कर रहा है। थोड़ी देर तक वह मुग्धभाव से उसकी क्रीडा देखता रहता है। कुवलयमाला अपने खेल में इतनी खोयी हुई है कि मलयहेतु की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। हमारा मलयहेतु भी उससे बात करने का विचार छोड़कर आगे चल देता है।

आगे बढ़ने पर पूर्व दिशा में उसे कुछ कोलाहल सुनाई पड़ता है। वह उधर ही चल पड़ता है। देखता क्या है कि प्रीतिमञ्जरी नामक कोई महिला अपने घर की दीवार से टिकी, कुछ घबरा कर, मुरलिका नाम की अपनी सहेली (पड़ोसिन?) से चुपके-चुपके कुछ बातें कर रही है। महिलाओं के पास जाकर

वह बगल में होने वाले कोलाहल का कारण पूछता है तो पता चलता है कि विजयसेन की पत्नी यह प्रीतिमञ्जरी कल रात को अपने मामा के पास गई थी और जब उसके बेटे भद्रसेन से एकान्त में कुछ बातें कर रही थी तभी उसकी दासी तरलिका ने दोनों को इस विश्रब्ध वार्तालाप के मध्य देख लिया और विजयसेन के ताम्बूलवाहक से– जिससे वह प्रेम करती है और आकर लुके-छिपे मिला करती है– सारी बात बता दी। ताम्बूलवाहक से किसी प्रकार विजयसेन तक यह सूचना पहुँची जिसने आव देखा न ताव, बिना प्रीतिमञ्जरी से कुछ पूछे, तलवार लेकर बाहर निकल पड़ा और भद्रसेन के घर पहुँच कर द्वन्द्व-युद्ध के लिये उसे ललकारा। इस पर वह भी शस्त्र लेकर घर से निकल आया और अब दोनों में युद्ध आसन्न है। घबराई हुई प्रीतिमञ्जरी सचिन्त होकर कहती है– पता नहीं अब विधाता क्या करने वाला है ! मलयकेतु हल्के से हँसकर मन ही मन कहता है– इस प्रसंग में विधना तुम्हारे पातिव्रत्य भंग के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है, जो पहले ही हो चुका है ! "अभी जाकर दानों को शान्त करता हूँ", कहकर मलयकेतु वहाँ से चल देता है।

दोनों वीरों की वेशभूषा और उनकी वीरोचित चेष्टाओं का ओजस्वी वर्णन, श्लोक सं० ४६ एवं ५० में हुआ है। मलयकेतु दोनों के झगड़े में न पड़ कर वहाँ से चल देने में ही अपनी कुशल समझता है। इस बीच में बीच-बचाव करने के लिए दोनों युयुत्सुओं के मध्य में बहुत से आस-पास के नागरिक इकट्ठे हो जाते हैं, और झगड़ा टल जाता है।

श्लो० ५० के पश्चात् भाण का कुछ अंश त्रुटित प्रतीत होता है। श्लोक ५२ में लाल साड़ी पहने हुए किसी रमणीय रमणी के अपनी गोद में रख कर द्रुतगति से बीणा बजाने का उल्लेख है, जिसका ऊपरी भाग उसके वक्षोजों का स्पर्श कर रहा है। रमणी का नाम हम नहीं जान पाते। विट कुछ देर तक रुक कर यह मोहक संगीत सुनता है और बिना उससे बात किये आगे बढ़ जाता है।

पाँच-छः कदम ही आगे बढ़ने पर वह पुनः एक युवती को देखता है और सोचने लगता है कि यह जानी-पहचानी सी देह-यष्टि किसकी हो सकती है ? "अरे, यह तो मेरी प्रेयसी चन्दनमाला है ! सायंकाल के निकट होने के कारण

प्रकाश की कमी से मैं इसे इतनी पास होने पर भी पहचान नहीं पा रहा था !" वह तेज़ कदमों से उसकी ओर बढ़ता है और उसे अपनी बाहों में भर लेता है। फिर उसकी ठोढ़ी उँगलियों से थोड़ी ऊपर उठाकर उससे अपने पूर्वकृत किसी अपराध की क्षमा याचना करता है। वह थोड़े अप्रसन्न भाव से कहती है– "क्षमा कैसी ? आप जैसे लोग भला कभी कोई अपराध कर सकते हैं ?" मलयकेतु अपनी सफाई देते हुए कहता है कि "अच्छा बताओ– इस वाले एकमात्र अपराध के अतिरिक्त कभी स्वप्न में भी मेरे द्वारा किया गया कोई अन्य अपराध तुम्हें याद है ? वह भी न चाहते हुए, इस कारण हो गया कि मैं एक महत्त्वपूर्ण कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहा। और तुम्हारे जैसी क्रोध को भूलकर तुरन्त प्रसन्न हो जाने वाली स्त्रियाँ मैंने बहुत कम देखी हैं। वस्तुतः कार्य में व्यस्त, और व्यग्र व्यक्तियों का अपने और पराये दोनों प्रकार के व्यक्तियों का ध्यान मन से उतर जाता है, भुवन भास्कर सूर्य तक को सायंकाल अपने प्रेयसी कमलिनी को छोड़ कर जाना पड़ता है। इसलिये कुछ अन्यथा मत सोचो। और हाँ, कुमुद्वती के कोई हाल–चाल मिले ?" "अरे, हम दोनों सखियाँ तो एक प्राण, दो शरीर हैं" " तो हमारा मनोरथ पूर्ण होगा कि नहीं ? "अपकी वाक्चातुरी के आगे कुछ भी असम्भव नहीं"।

चन्दनमाला के इस कथन से वह उत्साहित हो उठता है और पश्चिम की ओर देखने लगता है जहाँ सूर्य अस्त होने को है। कवि की उत्प्रेक्षा है कि सूर्य अपने मित्र चक्रवाक एवं प्रेयसी पद्मिनी से बिछुड़ने पर इतना दुःखी है कि नीचे सिर करके मानों आत्महत्या करने के लिए समुद्र में छलाँग रहा है।

वैसे सायंकाल का समय भी बड़ा मनोरम होता है। देखो, न घरों की बहुएँ बड़े उत्साह के साथ अपनी दासियों को विभिन्न प्रकार के आदेश दे रही हैं– "अरे मञ्जरी, छत पर इधर उधर बैठे हुए कबूतरों को हाँक कर पिंजरे में बेड़ दो। तोतों के पिंजरों को अन्दर लाकर यथास्थान टाँग दो। सुगन्धित धूप और अगुरु जला कर घर को सुवासित करो, और केशिनी तुम शयन कक्ष में जाकर पलँग पर फूलों की पंखड़ियाँ बिछा दो, कामदेव का आगमन होने वाला है न, उनके स्वागत में !"

सायंकाल के समय वेश्यालयों में सबसे अधिक चहल-पहल और सक्रियता

दिखाई देती है। हर ओर से वाद्यों का नाद, तथा गीतों और नृत्यों की ध्वनि सुनाई दे रही है। विट को लगता है कि इस समय यह वेशवाटी अपनी संगीतपरायणता के कारण गन्धर्वलोक को भी पीछे छोड़ चुकी है। कहीं वीणा का नाद है तो कहीं मृदंग पर पड़ती हुई थाप, कहीं पुष्पक्रीडा तो कहीं परिहास से उत्पन्न हास-विलास। कहीं दूतियाँ आ जा रही हैं, कहीं कोई मान किये बैठी है, तो कोई प्रणयक्रीडा में निमग्न है। (श्लो० ५६)

अब अँधेरा बढ़ता जा रहा है। कवि की कल्पना है कि मानों नीले जल वाला समुद्र ही सूर्य पर आक्रमण करने के लिये आकाश की ओर अभिमुख है क्योंकि सूर्य ने उसके प्रियपुत्र चन्द्रमा को हरा कर निस्तेज कर दिया था, वही चन्द्रमा जो अमृत का स्रोत है और भगवान् शंकर के सिर की शोभा है। ये तारे ही रत्नाकर के जल में विद्यमान मोती हैं और ये जलते हुए दीपक विविध प्रकार के देदीप्यमान रत्न। (श्लो० ५७)

चलते-चलते उसे सामने मलयवती के घर के बाहर लगा हुआ मन्दार वृक्ष दिखाई पड़ता है। वहाँ से उसका गन्तव्य कुमुद्वती का घर पास ही है, अतः वह सुस्ताने के लिए वृक्ष के नीचे ऐसे स्थान पर बैठता है जहाँ लोग उसे न देख सकें। वहाँ बैठ कर वह उस मार्ग से आने-जाने वाली अभिसारिकाओं की लीलाओं को देख़ते हुए अपने मित्र की प्रतीक्षा करता है, क्योंकि वहीं पर उसने उससे मिलने का वादा किया है। इस बीच उसे कहीं से कुछ पुरुषों के पारस्परिक वार्तालाप की धीमी ध्वनि सुनाई पड़ती है। ध्यान लगा कर देखता है तो पता चलता है कि मणिकुण्डल आदि कुछ धूर्तगण केतकी (केवड़े) की वाटिका में शृंगारमञ्जरी नामक वेश्या की प्रतीक्षा करते हुए, बैठकर, बातें कर रहे हैं। एक कहता है – 'आने का वचन देकर भी अभी तक नहीं आई, लगता है किसी धनिक ने उसे रोक लिया है' दूसरा– 'यह कैसे हो सकता है' ? तीसरा– 'हो सकता है, किसी विट के पास चली गई हो। सबसे अच्छा तो यह रहे कि यदि वह कभी ऐसी रात में कहीं आती-जाती दिखे तो बलात् उसे रोकर अपने वश में करना चाहिये।' मलयकेतु उन सबके साहस पर उन्हें मन ही मन साधुवाद देता है और स्वीकार करता है कि वास्तव में ऐसे लोग धन्य हैं जो रात्रि में तेज़ कदमों से संकेतस्थल पर अपने प्रेमी के पास कुछ घबराई

हुई सी, मुड़-मुड़कर चारों ओर देखती हुई और सहमी हुई सी चली जा रही अपनी पसन्द की किसी रमणी को रास्ते में छेक कर उसे अपनी बाहों में समेट लेते हों (श्लो० ५८)।

वह निश्चय करता है कि यहाँ से ज़रा सा हट कर इनकी चेष्टाएँ देखूँ ! इसी बीच में उसे नूपुर की ध्वनि सुनाई देती है। कोई नारी अँधेरे में बगल से निकल कर किसी घर की ओर बढ़ रही है। यह श्रृंगारमञ्जरी है, जो उन धूर्तों को उपेक्षित करके अपने प्रेमी के पास जा रही है। न उसे अँधेरे से डर लग रहा है, न चोरों से और न लुटेरों से। मलयकेतु अलक्षित रह कर उसका पीछा करता है। वह एक घर के पास जा कर खड़ी हो जाती है और चुटकी बजाकर किसी को बुलाती है। ऊपर से उसके उत्तर के रूप में शयनकक्ष की श्रृंखला के खड़कने की ध्वनि सुनाई पड़ती है। एक युवक पीछे के ज़ीने से नीचे उतरता है और घबराई हुई सी श्रृंगारमञ्जरी को अपने साथ ऊपर ले जाता है। मलयकेतु के अनुसार गौरवर्णा, सुसज्जित, श्रृंगारमञ्जरी के प्रवेश से वह सुनहला भवन मानों रत्नों की ज्योति से जगमगा उठता है। वह भी मुख्य ज़ीने से ऊपर चढ़ने का उपक्रम करता है, किन्तु इस बीच ऊपर से आती हुई एक महिला से टकरा जाता है। उसका आँचल पकड़कर वह 'तुम कौन हो, कौन हो' पूछता है तो पता चलता है कि वह सारिका है जो अपने पति की चेष्टाओं की जासूसी करने के लिए ऊपर गई थी। उसका पति सायंकाल से ही, धूप खा जाने से सिरदर्द होने का बहाना करके ऊपर के कमरे में लेटा हुआ है और मञ्जुषिका को भेज कर उसने श्रृंगारमञ्जरी को चुपके से अपने घर बुलवाया है। मलयकेतु मन ही मन हँसता हुआ कहता है – "तुम्हारा पति रसिकशिरोमणि अवश्य है, किन्तु ऐसा तो मुझे नहीं लगता !" दोनों साथ में ऊपर जाकर शयनगृह की खिड़की से अन्दर झाँकते हैं तो वास्तव में सारिका के रसिक पति को श्रृंगारमञ्जरी के साथ प्रेमक्रीडा में संलग्न पाते हैं। इस पर मलयकेतु मन ही मन उस रसिकशेखर की प्रशंसा करता है जो गोद में बैठा कर श्रृंगारमञ्जरी का चुम्बन कर रहा है (श्लो० ६१)। "तुम ठीक ही कह रही थीं, सारिका, अब जो उचित हो, तुम्हें करना चाहिये। मैं चलता हूँ" कह कर वह प्रस्थान कर देता है।

पूर्व दिशा की ओर दृष्टि डालने पर उसे चन्द्रमा उदित होता हुआ दिखाई देता है। उसका मित्र चन्द्रसेन अभी तक आकर नहीं मिला, इससे वह थोड़ी चिन्ता में है। किन्तु तभी एक युवक नीचे सिर करके, थके हुए कदमों से सामने आता हुआ दिखाई पड़ता है जो मलयकेतु का प्रियसखा चन्द्रसेन ही है। वह पूछता है– "मित्र, कुछ दुःखी जान पड़ते हो, क्या अभी तक तुम्हारी पत्नी तुमसे प्रसन्न नहीं हुई ? अच्छा थोड़ा यहीं रुको। सामने तुम्हारा घर है। मैं उसको मना कर अभी तुरन्त लौटता हूँ।"

चन्द्रसेन की एक दासी है – कुरंगिका। उससे वह पूछता है कि कुमुद्वती (चन्द्रसेन की पत्नी) 'इस समय कहाँ है ?" उत्तर मिलता है कि 'ऊपर अटारी पर है'। जब वह कहता है कि जाकर उसे मेरे आगमन की सूचना दे दो, तो वह कहती है– इस समय वह इतने क्रोध में है कि मुझे उसके पास जाते हुए भीषण डर लग रहा है'। तब मलयकेतु कुरंगिका के साथ अटारी पर चढ़ता है और ध्वनि के माध्यम से अपने आगमन की सूचना देता है। कुमुद्वती उसका अभिवादन करने के लिये तुरन्त खड़ी हो जाती है। विट उठने के लिए उसे मना करता है और कहता है कि मित्रों के बीच में ऐसी औपचारिकता के लिये कोई स्थान नहीं है और वैसे भी तुम्हारा शरीर इस समय ऐसे उपचारों का निर्वाह करने में अशक्त है क्योंकि – "तुम्हारा मुख इस समय ऐसा निस्तेज और कान्तिविहीन हो रहा है जैसे प्रभातकाल में चन्द्रमा। खुले बाल सामने आकर आलक्तकविहीन ओष्ठों को ढक रहे हैं। आखों से काजल को खिन्नतावश ऐसे निष्कासित कर दिया गया है जैसे उस प्रियतम को, जो तुम्हारा दास होने के लिये आकुल है, अब हम और क्या कहें" ? (श्लो० ६२) कुमुद्वती उत्तर देती है– आपके मित्र महोदय ने मेरे साथ क्या किया, इसका तो आपको पता नहीं। विना जाने ही सारा दोष मेरे ऊपर ही मढ़े दे रहे हैं।" "नहीं, नहीं, अरे भोली, मैं तुम्हारे ऊपर कोई भी दोषारोपण नहीं कर रहा, ऐसा तुम्हें केवल दुराग्रहवश प्रतीत हो रहा है।" "मैंने कह दिया, अब मुझे उस धूर्त से कुछ भी लेना देना नहीं है।" "तुम इस समय अपने वश में नहीं हो, इसलिए ऐसा कह रही हो। आज तुम उसका उपहास करके उससे पृथक् होना चाहती हो, किन्तु जब वह तुम्हें छोड़कर वास्तव में चला जाएगा तब लोग तुम्हारा कितना भयंकर

उपहास करेंगे, यह भी सोचा है ?

इस पर कुमुद्वती मौन रहती है। विट सोचता है ''अनिषिद्धम् अंगीकृतमेव''– बात काटी नहीं गई, इसका मतलब स्वीकृत कर ली गई। दासी कुरंगिका से वह कहता है– 'देखो, बाहर हमारा एक सेवक खड़ा है, ज़रा उसे बुला लाओ।' प्रिय के ऊपर आने की बात पर कुमुद्वती थोड़ा शरमा सी जाती है। चतुर विट मलयकेतु उसके चेहरे का भाव पढ़कर तुरन्त समझ जाता है कि इस मानिनी का मान अब शिथिल पड़ रहा है।' अपने मित्र, उस सेवक-श्रेष्ठ, के ऊपर आने पर वह हल्के से हँसते हुए उससे कहता है– ''सच पूछो, तो सारा अपराध तुम्हारा ही हैं इसका क्या प्रायश्चित्त करोगे ?'' ''जो प्रिय मित्र कहें''। ''देखो, कुमद्वती के पैरों पर गिरने के अतिरिक्त इसका न तो कोई अन्य प्रायश्चित्त है, न ही उसके चित्त को प्रसन्न करने का कोई अन्य साधन। क्या बोले ? 'अभी गिरता हूँ', ठीक है।''

तदनन्तर नायिका से विट अनुरोधपूर्वक कहता है कि अब तुम अपना क्रोध छोड़ दो। भला स्वामी के पैरों पर गिरने के बाद भी क्रोधित बने रहने का क्या औचित्य है ? इसको अपनी कृपा का पात्र बनाओ, और अपने हाथों से शीघ्र ऊपर उठा लो। अरे, क्या अभी भी कुछ क्रोध बाकी है ? लगता है तुम्हारे निर्दय हृदय में अपने प्रियतम से भी ज्यादा क्रोध के प्रति प्रेम है। अरे, पक्षपात अपनों के प्रति होता है, दूसरों के प्रति नहीं। लगता है तुम्हारी पक्षपातिता कहीं सो रही है'' !

अब नायिका की आँखों से आँसू टपक पड़ते हैं। अपने कोमल हाथों को वह पति की ओर बढ़ाती है। इस पर मलयकेतु प्रसन्न होकर मित्र से कहता है – ''उठो, उठो, प्रियतमा ने तुम्हें अनुगृहीत कर दिया।'' कुमुद्वती पलँग पर थोड़ा एक ओर खिसक जाती है जिससे चन्द्रसेन उसके साथ बैठ सके। विट को दोनों की यह प्रीति देखकर अत्यन्त संतोष होता है।

वह नायिका से कहता है – देखो, चन्द्रोदय हो रहा है (चन्द्रसेन की ओर संकेत है) जिससे कुमुदिनी खिली पड़ रही है (कुमुद्वती की ओर संकेत)। आकाश रूपी रत्नशय्या (तारे !) पर चन्द्रमा पौढ़ा हुआ है और सर्वत्र स्नेह-सुधा सरसा रहा है। इस पर चकोरियाँ वैसे ही हर्षित हो रही हैं जैसे तुम्हारी सखियाँ। अब नायक की ओर अभिमुख होकर वह कहता है– अच्छा अब तुम कस्तूरी से इस

कमलनयनी के माथे पर तिलक अंकित करो, और स्तनों पर मकरी (शिशुमार, सूँस) की आकृति के आलेख बनाओ। सारा काम इसके मन के अनुसार ही करना और कभी परिहास (मज़ाक) में भी इसके साथ अशिष्टता न करना। जानते हो क्यों ? क्यों कि पूर्व में अर्जित प्रभूत पुण्यों के फलस्वरूप ही ऐसी किसी कमल-नयनी से समागम होता है जो प्रणयकेलि के पश्चात् छोटी-छोटी तेज साँसों के साथ प्रियतम के मुख में पान का आधा बीड़ा खोंसती है, और शेष आधा अपने मुख से काट लेती है। सब संसारी जनों को यह सुख नहीं मिलता !

रूपक यहाँ समाप्त होता है। भरतवाक्य में ईश्वर से, सन्तोषी सज्जनों को (मलयकेतु की भाँति) सतत परोपकार में संलग्न रहने की प्रार्थना की गई है। राजा अपने शत्रुओं का विनाश करके न्यायपूर्वक पृथ्वी का पालन करें, और धीरोदार गुणी नायक से युक्त तथा सद्वचनों से सुन्दर भाषा में रचित सुकवि कालनाथ की यह कृति सज्जनों का कण्ठहार बने।

कविकालनाथ एवं उनकी कृति

सौभाग्य से कवि ने रूपक की प्रस्तावना में अपना थोड़ा सा परिचय दिया है जिससे पता चलता है कि मूलतः वे वाराणसी के निवासी थे, अत्रि गोत्र में उत्पन्न हुए थे और उनके पिता का नाम 'पीताम्बर' था। संभवतः वाराणसी (या आस पास के) के गर्गवंशीय राजा इन्द्रशिखर (या इन्द्रशेखर) के वे प्रियपात्र तथा सभाकवि थे। इन्द्रशिखर की माता का नाम 'हरिप्रिया' था और पिता थे 'हरिश्चन्द्र'। उनकी जागीर या राज्य कुछ बड़ा ही रहा होगा क्योंकि उनको २६ छोटे राजाओं का अधिराट् बताया गया है। दुर्भाग्य से हमको इतिहास में न तो इनका परिचय प्राप्त होता है, न ही हमको ठीक प्रकार से यह परिज्ञात है कि इन्द्रशिखर की राजधानी किस नगर में थी। यह आवश्यक नहीं कि वे वाराणसी से राज्य करते रहे हों क्यों कि यद्यपि कवि 'वाराणसेय' अवश्य है, किन्तु वाराणसी में जन्मा वह कवि अन्यत्र जाकर भी सभाकवि बन सकता है और इसी की सम्भावना अधिक लगती है। अपने आश्रयदाता इन्द्रशिखर (या इन्द्रशेखर) को उन्होंने पूर्वदिशा का 'महेन्द्र' कह कर सम्मान दिया है (इन्द्र भी पूर्व दिशा के स्वामी हैं)। वैष्णव कुल से संबद्ध होते हुए भी उनका सभी

देवों के प्रति समान श्रद्धाभाव जान पड़ता है। काली की चैत्र (=नवरात्र) यात्रा के प्रसंग में नाटक का मञ्चन हुआ है। यात्रा (जात्रा) के अवसर पर देवमूर्ति के मन्दिर से बाहर आने पर और उद्यान या किसी अन्य शाला में स्थापित किये जाने पर अनेक प्रकार के धार्मिक एवं (आज की भाषा में) 'सांस्कृतिक' कार्यक्रमों के आयोजन का उल्लेख कथासरित्सागर आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्टतः प्राप्त होता हैं। कालिका के सम्मुख दी जाने वाली बलि कोलकातानगरीय कालीघाट की याद दिलाती है। उड़ीसा में भी देवी के लिये छागबलि बहुत प्रचलित है (जाजपुर आदि स्थानों पर)। बिहार में भी रही होगी, किन्तु बौद्ध-वैष्णव धर्मानुयायी पालों के शासन के समय इसमें बहुत कमी आई। हाँ, मिथिला में यह पूर्ण संरम्भ के साथ प्रचलित रही, और अभी भी है। कालनाथ नाम में 'नाथ' शब्द मत्स्येन्द्र-गोरख के द्वारा प्रवर्तित नाथसम्प्रदाय की ओर संकेत करता है जिसका अनुयायी हमारा कवि हो सकता है। वैसे उसका स्वाभाविक झुकाव शाक्तदर्शन की ओर अधिक है जिसमें शिवतत्त्व नहीं, अपितु शक्ति-तत्त्व अधिक प्रधान है। मंगलाचरण श्लोक में अर्धनारीश्वर शिव के रमणीय वामांग की ही स्तुति है, दक्षिण की नहीं। पूरा भाण नारी प्रधान है। अन्त के दृश्य में भी पुरुष को ही नारी के चरणों पर गिरते दिखाया गया है। शाक्ताचार के पञ्चमकारों में से पञ्चम इस पूरे रूपक का प्रेरणा-स्रोत प्रतीत होता है। श्लोक ११–१२ में 'पुष्पिणी' नारी के दर्शन की विशिष्ट प्रशंसा भी इसी ओर इंगित करती है। 'सुकृतफलं हि सारसाक्षीसमागमः' अन्तिम दृश्य में कवि की यह टिप्पणी उसका अपना व्यक्तिगत विचार भी लगता है। वाराणसी से बंगभूमि तक कहीं कवि की कर्मभूमि रही होगी, ऐसा मेरा अनुमान है।

ग्रन्थ में केवल एक ही भौगोलिक प्रदेश का निर्भ्रान्त उल्लेख मिलता है, और वह है मेवाड़ (मेदपाट)। मेवाड़ का एक अश्वविक्रेता (घोटकवणिक्) उस वेश्यालय में आकर फँस गया है। किसी वेश्या ने उसका सर्वस्व अपहरण कर, कपड़े तक उतरवा लिये हैं (द्र० श्लोक २६ और ३० की बीच का गद्यभाग)। वैसे तो मेवाड़ अच्छे घोड़ों की जन्मस्थली नहीं है, पर लगता है कि वहाँ बाहर (सिन्ध या काम्बोज आदि पश्चिमी प्रदेशों) से घोड़े मँगवा कर सवारी या युद्ध

आदि के लिये प्रशिक्षित किये जाते थे और फिर उन्हें उत्तर-पूर्वी भारत में लाकर बेचा जाता था। यों तो मेवाड़ राज्य के आदिसंस्थापक बप्पा रावल का समय षष्ठ शताब्दी माना जाता है किन्तु इस राज्य का सर्वाधिक उत्कर्ष दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक रहा। खानुआ के युद्ध में बाबर के हाथों राणा संग्रामसिंह ('साँगा') की पराजय के बाद मेवाड़ वह मेवाड़ नहीं रहा। राजधानी भी चित्तौड़ से हटकर उदयपुर चली आई। चित्तौड़ दुर्ग का अधिकांश उत्कृष्ट वास्तु एवं शिल्प, ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का है। मेवाड़ के 'शासक' शिव-एकलिंग जी के मन्दिर के निर्माण का समय भी १०वीं-११वीं शती है।

जिन कौलकापालिकों की निन्द्य चेष्टाओं का सजीव चित्रण कालनाथ ने श्लोक ३५,३६ तथा मुख्यतः ३८ में किया है उससे लगता है कि उस समय समाज में यह वर्ग काफ़ी महत्त्वपूर्ण था। कापालिकों के उत्कर्ष का समय भी दसवीं से बारहवीं (अधिकतम १३ वीं) शती के मध्य पड़ता है।, अतः हमारा अनुमान है कि इस भाण की रचना लगभग इसी काल में होनी चाहिए– अर्थात् ईसवी सन् १००० से १२०० के बीच। भाण के सूक्ष्मावलोकन से स्पष्ट है कि अभी मुस्लिम संस्कृति ने भारत में पाँव नहीं पसारे थे और भारत के स्वर्णयुग, गुप्तकाल, में विकसित-पल्लवित संस्कृति ही ह्रासोन्मुख रूप में अभी नगरों में सर्वत्र व्याप्त रहकर तत्कालीन भारतीय नागरिकों में स्वीकार्य थी।

हमारा भाण एक अत्यन्त समृद्धिशाली युग की छवि प्रस्तुत करता है। तत्कालीन भारत की आर्थिक स्थिति निश्चय ही अत्यन्त सुदृढ़ रही होगी। लोग विविधवर्णों के रंगीन पत्थरों द्वारा कई-कई मंज़िलों वाले विशाल भवन बनाते थे जिनमें सबसे ऊपर सोने से मढ़ा मङ्गलकलश के आकार का एक गुम्बज़ बनाया जाता था। दिन भर मकानों के कमरे अगुरु आदि सुगन्धित द्रव्यों के धुएँ से सुवासित रहते थे और खिड़कियों से निकल कर यह परिमल बाह्य वातावरण (आवागमन पथ) तक को सुगन्धित करता था (श्लोक ६)। हमारा मलयकेतु ऐसे नगरखण्डों को 'शृङ्गार और वैभव की परमसीमा' कह कर अभिशंसित करता है।

प्रस्तुत भाण में प्रसंगानुकूल तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिदृश्य का बड़ा सुन्दर चित्रण है। सूर्य, शिव, भैरव, एवं काली-चण्डी प्रभृति

देव-देवियों के प्रति कवि का विशेष श्रद्धाभाव है और उनकी स्तुति में पद्य भी हैं। देवी कालिका तो उसके आश्रयदाता शिखर(पति) वंश की कुलदेवीं भी हैं। कालिका को दी जाने वाली भीषण रक्तपात-युक्त छागबलि का, और अपने अलावु (तुम्बी) चषकों में भर-भर कर मदिरा पीने और बाद में मत्त होकर एक दूसरे के सिर पर उन्हें फोड़ डालने वाले, साथ ही अपने बैठने के चटाई वाले आसन की चिन्धी-चिन्धी करके इधर-उधर फेंकने वाले कौल-कापालिकों का वर्णन आँखों के सामने सजीव होकर नाच उठता है (श्लो० ३८)। हलके शारीरिक व्यायाम हेतु गेंद (कन्दुक) से खेलना कन्याओं की प्रिय क्रीडा में सम्मिलित था। गेंद किस पदार्थ की बनाई जाती थी, इस पर शोध अपेक्षित है, क्योंकि भूमि पर गिरकर यह उछला करती थी –लकड़ी या कपड़े की गेंद हो, तो यह संभव नहीं। हो सकता है बाह्य आवरण चमड़े का होता हो, क्योंकि रबर का तो परिज्ञान था नहीं और न अभी उसकी खोज ही हुई थी। घरों में शुकों को पालने की प्रथा तो भारत में बहुत ही प्राचीन है। मथुरा की शिल्प कला में एक हाथ में शुक का पिंजरा लिये हुए एक मादक स्त्री का चित्रण भी है। अतः शृंगारमञ्जरी आदि नायिकाओं का अपने शुक को भाषा की शिक्षा देना (श्लो० ४७) स्वाभाविक लगता हैं, किन्तु भवनों की छत पर कबूतरों को पालने (श्लो० २८) और शाम को उन्हें हाँक कर उनके दड़बे में बन्द करने के उल्लेख (श्लो० ५५), से लगता है कि यह भारतीयों का एक नया शौक विकसित हुआ था– स्वतः स्फूर्त हुआ या बाहर (फारस?) से आया, इस पर विचार होना चाहिए। वैदिक काल में तो कपोत को यम का दूत माना जाता था और वैदिक संहिताओं में घर पर पारावत के बैठ जाने या नीड बना लेने पर तज्जन्य अनिष्ट-निवारण हेतु मन्त्र भी दिये हुए हैं। कालिदास ने उज्जयिनी की अट्टालिकाओं की वलभी पर जिन सोते हुए कबूतरों का उल्लेख किया है– और उस स्थान पर मेघ को भी अपनी प्रिया विद्युत् के साथ रात बिताने की सलाह दी है (मेघदूत, श्लो० ३८, **तां कस्याञ्चिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायां, नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात् खिन्नविद्युत्कलत्रः**), वे कदाचित् पालतू कपोत नहीं रहे होंगे, अपितु वैसे ही धूम्रवर्णी वन्यकबूतर जैसे आज भी हमारे नगरों के ऊँचे भवनों में सर्वत्र निवास

करते हैं, अस्तु।

वेश्यालय की सुन्दरियों की झीनी, पारदर्शी, श्वेत, कौसुम्भी तथा लाल रंग की रेशमी साड़ियों का (श्लो० २४, २६, ५२), उनकी साज-सज्जा का, और प्रसाधन हेतु प्रयुक्त होने वाले आलक्तक, ओष्ठरञ्जनी तथा पुष्पप्रकर, पुष्पमालाओं एवं सुगन्धित द्रव्यों का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। कस्तूरी के लेप से वक्षःस्थल को महकाने का एवं अगुरु, धूप आदि सुगन्धित द्रव्यों को हल्की, सुलगती आँच में डाल कर उनके धुएँ से बालों को सुगन्धित करने का भी उल्लेख है (श्लो० १५)। महिलाएँ जब अपने घने, लम्बे, बालों (कबरीभर) को खोलकर पीठपर डाल लेती थीं तो घर के पालतू मोर उसे मेघाडाम्बर समझ कर पास आ जाते थे ! केशपाश में पुष्पों के गुम्फन का और शरीर पर पहने जाने वाले विविध आभूषणों का उल्लेख तत्कालीन सांस्कृतिक उत्कर्ष एवं समृद्धि का परिचायक है। आज जैसे हाथों में मेंहदी के सुरुचिपूर्ण आलेख सजाए जाते हैं, वैसे ही हमारे भाण के काल के रसिक नागरगण कस्तूरी से अपनी प्रेमिकाओं के उरोजों पर चित्रित करते थे और युयुत्सु वीर अपने माथे पर कस्तूरी का तिलक लगाकर तथा अपनी भुजाओं, वक्षःस्थल तथा सिर पर रुद्राक्ष की माला धारण कर, कमर में काछनी कसकर और हाथ में तलवार लेकर भैरव की भाँति रणभूमि में कूद पड़ते थे।

ग्रीमष्मऋतु के दिन का मध्यकाल वनिताएँ अपने वल्लभों के साथ ऐसे कक्षों में व्यतीत करती थीं जिनकी गीली (सरस) दीवारें घास से बनाई जाती थीं और जिनमें सुगन्ध एवं शीतलता हेतु बीच-बीच में नागरमोथा, खस, जटामासी तथा मृणाल का गुम्फन किया जाता था (श्लो० २६)।

भारतीय संगीत (वाद्य, गीत, नृत्य) एक साधना का नाम है। यह मनोरञ्जन का साधन नहीं, अपितु एक तपस्या है। यह एक पूजा है, जिसे विशिष्ट उपचार के रूप में कलाकार अपने इष्टदेवता को समर्पित करता है। मानव दर्शक इसमें गौण किंवा आनुषङ्गिक हैं। यही कारण है कि यह सदैव मन्दिरों से जुड़ा रहा। कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में गणिकाओं द्वारा शिव की प्रदोषकालिक समर्चना में क्रियमाण नृत्य का मनोहारी उल्लेख किया है (श्लो० ३५)। पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में रात्रि की पूजा ('बड़ शृङ्गार') के

उपरान्त देवदासियों द्वारा गीतगोविन्द के पदों पर वह नृत्य किया जाता था जिसे आज ओडिसी नाम से जाना जाता है। दक्षिण भारत के मन्दिरों की नृत्य की परम्परा तो सुविख्यात है। हमारे भाण में भी कालिकादेवी के मन्दिर के प्रांगण में नर्तकियों द्वारा देवी माँ को संगीत अर्पित करने का अतीव मनोरम एवं सजीव चित्रण है। जिसमें भरत के नाट्यशास्त्रोक्त विधान के अनुसार पहले थोड़ी देर इष्टदेवता के ध्यान में अधोमुख एवं निष्पन्द खड़ी रहकर, तत्पश्चात् धीरे-धीरे लयपूर्ण एवं ललित पदक्रमों से चलती हुई मृगनयनी नर्तकियाँ पूर्वरंग का अनुष्ठान कर एवं रंगभूमि के केन्द्र में ब्रह्मा को पुष्पाञ्जलि प्रदान कर, गीतों के शब्द, अर्थ एवं रस का ऐसा चित्तग्राही अभिनय करती हैं कि दर्शकों का नृत्य में पूर्ण तन्मयीभाव हो जाता है (**पश्यतो मम तन्मयं मनः**, श्लो० ४६) और दर्शक अपने बस में नहीं रहता (**गच्छन्त्यो रचयन्ति हन्त विवशं रङ्गं कुरङ्गीदृशः**, ४२)।

वस्तुतः हमारा यह रूपक उस समय की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का चित्र उपस्थित करता है जब गीत, नृत्य, आदि सहित सभी प्रकार की ललित कलाएँ अपने चरम उत्कर्ष पर थीं।

कालनाथ की काव्यप्रतिभा

भाषा एवं शैली –

कालनाथ का एक मात्र उपलब्ध यह रूपक भी उनको संस्कृत के श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठापित करने में समर्थ है। कालनाथ की शब्द-सम्पदा विशाल है पर वे चतुराई से चुने गये नपे-तुले शब्दों में ही अपनी बात व्यक्त करना उचित समझते हैं। निरतिशय सरल, मसृण, भावपूर्ण, सरस, सारगर्भित एवं चुटीला गद्य लिखने में वे दक्ष हैं। प्रस्तावना को छोड़कर रूपक के मुख्य भाग में कहीं पर भी उन्होंने लम्बे वाक्यों का प्रयोग नहीं किया। दोनों ही स्थानों में यह प्रसंगानुकूल भी है। रूपक के गद्यभाग में स्थान-स्थान पर बड़ी सुन्दर सूक्तियों का सन्निवेश प्राप्त होता है और वाक्यों की संरचना तथा अभिव्यक्ति की सहजता से संस्कृत की जीवन्तता प्रमाणित होती है। उनकी मातृभाषा क्या थी, यह कहना तो कठिन है, किन्तु संस्कृत का वे जीवन में

व्यावहारिक प्रयोग भी करते रहे होंगे ' –*'तदितो नातिदूरगन्तव्या सा वीथी।' 'तदनुचितमेनामसंभाष्य अन्यतो गन्तुम् '। 'साधयामस्तावत्' (तु०की 'समिधाहरणाय साधयामो वयम् '* – शाकुन्तल, प्रथम अंक)। *'अनन्तरकरणीयाय प्रयतिष्ये।' 'एष कलहांकुरमन्मूलयामि।' 'सुधटितं तर्हि विधात्रा विधात्रा', तदनुचितमस्याः रसपरवशतां विहन्तुम्।' 'उपक्रान्तमेवैतैः स्वसिद्धिकौशलं प्रकाशयितुम्'*, आदि ऐसे ही सुव्यस्थित, सुघटित एवं सारगर्भित वाक्य हैं।

कालनाथ की सूक्तियाँ –

उनकी सूक्तियाँ भी प्रायः नितान्त नवीन एवं मौलिक हैं। ये उनके गद्य एवं पद्य दोनों में गुम्फित हैं– *'न हि सौहृदमुपचारम्'* (अच्छे मित्रों के बीच औपचारिकता नाम की वस्तु नहीं होनी चाहिए'), *'अयुक्तः खलु कार्यातिपातः'* (अन्य छोटे मोटे कार्यों में उलझ कर आवश्यक कर्त्तव्य की हानि करना उचित नहीं होता), *'तदतो मत्कुणभिया परित्यक्तशय्यस्य वृश्चिकवेदनानुभवः'* (खटमलों से त्रस्त होकर बिस्तर से उतरने के लिये भूमि पर पाँव रखा तो बिच्छू ने डंक मार दिया), *'सद्यः प्रसादसुभगा विरला हि नार्यः'* (बहुत कम ही ऐसी स्त्रियाँ होती हैं जो प्रिय के मनाने पर तुरन्त प्रसन्न हो जाएँ) *'विचित्रो विधिविधिः'* (विधाता का विधान बड़ा विचित्र होता है), *'अनिषिद्धमङ्गीकृतमेव'* (अगर प्रतिवाद नहीं किया, तो समझ लो स्वीकार कर लिया), *असम्भावना हि सम्भावितस्य यावज्जीवं शल्यम्* (किसी सम्मानित व्यक्ति का यदि कहीं थोड़ा सा भी अनादर हो जाए तो वह उसे जीवन भर सालता रहता है), *'प्रणमति निजनाथे कोऽपराधः स्थातुं नाथते'* ? (प्रियतम के झुककर प्रणाम करने के पश्चात् कौन से क्रोध की सामर्थ्य है कि वह फिर भी प्रिया के मन में बना रहे) तथा रूपक के अन्तिम अंश में आने वाली, सम्पूर्ण कथावस्तु की सारातिसारस्वरूप यह सूक्ति *'सुकृतफलं हि सारसाक्षीसमागमः'* (पूर्वकृत अनेक पुण्यों के फलस्वरूप ही कमल के समान नेत्र वाली किसी सुन्दरी से समागम होता है), ये सभी कवि के सिद्धवाक्य हैं जो उसकी रचनाचातुरी के साथ-साथ उसके लोक ज्ञान के भी उत्तम परिचायक हैं।

अलंकारयोजना –

कालनाथ को संस्कृत भाषा पर निःसन्दिग्ध पूर्ण आधिपत्य था। कभी-कभी वह पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये शब्दों से खिलवाड़ करने लगते हैं। रचना का

निम्न पद्य (श्लो० ३०) इसका उत्तम उदाहरण है जिसमें टकार का बाहुल्य चमत्कृति उत्पन्न करता है–

तुलाकोटिप्रान्तक्वण. त्चणचेटीकरवलद् -
वराटीवाचाटीकृतविटवधूटीगृहतटी।
नटीघोटीराजन्मदननृपधाटी पटकुटी -
कपाटी खल्वाटीरचितपरिपाटीकृतवटी।।

इसी प्रकार श्लोक २५ में भी टकार एवं णकार का प्रयोग दर्शनीय है। छन्द की यतियों पर एवं चरणों के अन्त में निर्मित मध्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रासों की यह छटा भी अतीव हृदयावर्जक है–

करकलितकपाला तालहालारसाला
पृथुलतरकपोलस्विद्यदत्युग्रभाला।
मदहसितकरालीमर्चयत्यादिकाली-
मुपहृतरुधिरालीमत्र कापालिकाली ।। (श्लो० ३५)

कवि का ललितवर्णों में गुम्फित अनुप्रास के प्रति विशेष लगाव है। गद्य एवं पद्य दोनों में वह ध्वनिसाम्य वाले वर्णों का प्रयोग करने का पक्षपाती है। ३७ वें श्लोक (**काहलीकृतकुरंगशृंगिका०**) का प्रत्येक शब्द, या समस्त शब्द, क–वर्ण से प्रारम्भ होता है और लकार के बाहुल्य से युक्त है ('रलयोरभेदः' से र का भी ग्रहण करें)। **'सिन्दूरसुन्दरकपोलकपालमाला हेलावलोकनसकौतुकमानसोऽपि'** (श्लो० ३४) जैसी शब्दावली का प्रयोग वह इतने सहजभाव से और अनायास करता चलता है कि उसमें कोई कृत्रिमता प्रतीत नहीं होती। **'स्पन्दाय मन्दाधराः ' कमलासनाय कुसुमानि' 'रङ्गं कुरङ्गीदृशः'** (श्लो० ४२) **'मुरली तरलयति'** (श्लो० ४०) भी ऐसे ही प्रयोग हैं। वृत्ति- एवं अन्त्यानुप्रास का सौन्दर्य कवि द्वारा सूर्य नारायण की स्तुति में निबद्ध श्लोक ८ में भी अवलोकनीय है –

सिन्दूरसुन्दरकराय दिवाकराय
दृप्यत्तमःशमकराय शिवाकराय।
भक्तोपदर्शितफलाय मुदालयाय
तस्मै नमोऽस्तु करुणावरुणालयाय।।

रूपक का परिशीलन करने पर पाठकों को ऐसे और अनेक प्रयोग मिलेंगे।

अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा कवि का सर्वप्रिय अलंकार प्रतीत होता है। उसकी उत्कृष्ट कल्पना-शक्ति एवं उच्च कोटि की उद्‌भावनप्रवणता इसमें उसे विलक्षण प्रावीण्य प्रदान करती है। पीछे रूपक की कथावस्तु में प्रसंगवश कई सुन्दर उत्प्रेक्षाओं की चर्चा की गई है– कोई नर्तकी दीर्घकाल तक नृत्य करने के उपरान्त थक कर, साड़ी के आँचल को ठोढ़ी में दबाकर, अपनी चोली (कञ्चुक) बदल रही है। कवि की कल्पना कि यतः इस नृत्य के द्वारा उसने सारे दर्शकों के चित्त को चुरा लिया है, इसलिये लगता है कि उन सभी चित्तों को समेट-बटोर कर अपनी चोली में भरने के लिये ही उसे खोल रही है–

अञ्चलेन चिबुकानुकम्पिना
किञ्चिदावृतकुचद्वयान्तरा।
कञ्चुकापनयनेन चेतसां
सञ्चयं किमियमीहते नृणाम्। (श्लो० ४५)

सन्देह गर्भित होने से यह उत्प्रेक्षा और भी सुन्दर बन पड़ी है। कन्दुक क्रीडा के प्रसंग में नायिका द्वारा अपने स्तनों के आकार-प्रकार का अनुकरण और उनकी बराबरी करने का दुःसाहस करने वाले कन्दुक को बारम्बार प्रताडित करने की चर्चा भी हो चुकी है। अपना अपराध क्षमा कराने के लिये बेचारा कन्दुक बार-बार नायिका के चरणों में गिरता है–

कुचनिकुचमानवहनापराधयोगीव ताड्यते त्वनया।
कन्दुक एष च भूयो भूयः परिपतति पादयोरस्याः।। (श्लो० ४८)

रमणियों के द्वारा दुपहर के समय सूर्य के प्रखर किरण-बाणों से भयभीत होकर अन्धकार अपनी सखियों, पुर-रमणियों, के यहाँ शरण लेता है, जो चारों ओर से खस-मोथा-मासी आदि की टटियाँ लगा कर अपने कक्षों में पुरानी मैत्री का पालन करते हुए, अपने प्रियतमों के साथ मिलकर, मानों उसकी रक्षा करती हैं। रमणियों की अन्धकार से यह मैत्री इसलिये हैं क्यों कि नैश-अभिसार के समय वह उनको सर्वतः आवृत कर, उनकी रक्षा करता है–

सरससरसमुस्तोशीरमासीमृणाल-
प्रगुणिततृणभित्तिश्रेणिवेश्म श्रयन्त्यः।
अभिसृतिकृतसख्यं पालयन्तीव नार्यः
खरकरभीतं वल्लभैरन्धकारम् ।। (श्लो० २६)

अन्य अलंकारों से सबन्धित कई प्रकार के उक्ति वैचित्र्य को सहृदय स्वयं अनुभव करेंगे। यहाँ केवल दिशानिर्देश मात्र किया गया है।

रसाभिव्यक्ति –

इस रूपक के विषय में कालनाथ ने स्वयं कहा है कि इसका अंगीरस श्रृंगार है (श्लोक ५)। पूरे रूपक में श्रृंगार अपने संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूपों में समाया हुआ है, किन्तु स्पष्ट है कि संयोग का ही मुख्यतः प्राधान्य है। वैसे विप्रलम्भ श्रृंगार की अभिव्यक्ति का सबसे सुन्दर उदाहरण २३वें श्लोक में मिलेगा (**गलदञ्जनजलकणिका**–) जिसमें अनङ्गमञ्जरी की विरहवेदना और उसकी दैहिक स्थिति का मार्मिक चित्रण है। ''**करालकरवालि-कारसनकम्पनोत्तोलित**–'' (श्लोक ४६) पद्य में वीर रस की तथा अगले ''**रुद्राक्षान् भुजयोः शिरस्युरसि च**–'' (श्लोक ५०) में वीरमिश्रित रौद्र रस की उपस्थिति निर्विवाद है। ''**निराशंकं नीवीनियमनमनादृत्य**'' (श्लोक २७) यद्यपि एक नारी के विलाप का चित्रण होने से करुण-रस की सृष्टि करता हुआ प्रतीत होता है किन्तु इस जरती का 'नीवीनियमनमनादृत्य' के साथ 'स्मरविवर-संरोधनपरा' रूप में वर्णन वस्तुतः जुगुप्सात्मक अधिक होने से बीभत्स की ओर उन्मुख है। श्लोक के ३६ में कौलिकेन्द्रों द्वारा हालापान और उसके परिणामों का तथा ३८वें में उनके परस्पर एक दूसरे की खोपड़ी पर अपने खप्पर फोड़ने का वर्णन भी बीभत्स की श्रेणी में आता है। ''**रक्तैरक्षतपुष्पचन्दन रसैः**'' आदि पद्य (श्लो० ३२) में देवी कालिका के मन्दिर में दी जाने वाली बकरों की बलि का जो चित्रण है और जिसमें सैकड़ों बकरों के सिर, कोलाहल करते हुए दुर्दान्त, साहसी जन अपने खड्ग से काट रहे हैं, भयानक रस का सुन्दर उदाहरण बन सकता है। 'भक्ति' रस की अवधारणा ने यद्यपि कालनाथ के समय में अभी जन्म नहीं लिया था किन्तु फिर भी सूर्य, काली एवं भैरव की स्तुतियाँ भक्तिभाव से पूर्ण हैं। श्लोक सं० ३० और ३१ के बीच का गद्यभाग

जिसमें पान चबाती और अट्टहास करती हुई एक कुरूप स्वैरिणी प्रौढ़ा, जो अपने निचले ओठ को खींच कर देख रही है कि उन पर पान रचा या नहीं, जब हमारे विट मलयकेतु का वस्त्र पकड़ कर अपनी ओर खींचती है और विट किसी प्रकार उसके चंगुल से छूट कर अपनी जान बचाता है, तो हास्य रस की सृष्टि होती है।

छन्दोविन्यास –

कालनाथ छन्दों के प्रयोग में सुतरां दक्ष हैं। इन्होंने इस लघुकाय रचना में १६ प्रकार के विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है, जो मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के हैं। आर्या और गीति दोनों को मिलाकर वर्णिक छन्दों की संख्या १४ है जिनमें गीति में १२ एवं आर्या में २ पद्य निबद्ध हैं। नाटक में गायन हेतु ये दोनों ही छन्द विशेष उपयुक्त होते हैं, विशेषतः गीति। मात्रिक छन्दों में शार्दूल विक्रीडित भी अपने १४ ही पद्यों को लेकर शीर्ष पर है, उसके पश्चात् क्रमशः मालिनी (९), रथोद्धता (७), वसन्ततिलका (६), शिखरिणी (४), हरिणी तथा इन्द्रवज्रा (दोनों ३, ३) का क्रम है। पृथ्वी एवं अनुष्टुप् में दो-दो तथा शेष उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वियोगिनी, औपच्छन्दसिक तथा पुष्पिताग्रा आदि में एक-एक पद्य प्राप्त होता है। परिशिष्ट में छन्दोऽनुसार सभी पद्य चिह्नित कर दिये गये हैं। छन्दों के चयन में कालनाथ ने बहुत सावधानी बर्ती है। छन्दोयोजना प्रसंग एवं विषयवस्तु के सर्वथा अनुकूल है और साथ ही रसाभिव्यक्ति में सहायक। ओज पूर्ण प्रसंगों में अथवा वस्तुस्थिति चित्रण में शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग हुआ है तो कोमल भावपूर्ण प्रसंगों में मालिनी, वसन्ततिलका या रथोद्धता आदि का।

अनङ्गसञ्जीवनभाण की मातृका

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, प्रस्तुत भाण की मातृका प्रयाग से ही प्राप्त हुई है। सिविल लाइन्स एवं चौक के मध्य में अवस्थित जान्स्टनगंज नामक मुहल्ले में अवस्थित श्री शिवशर्मा आयुर्वेदिक औषधालय के श्री शशिनन्दन पाण्डेय ने इसे विक्रयार्थ विद्यापीठ में प्रस्तुत किया था। ग्रन्थ के साथ भूरे रंग के पतले कागजों पर लिखी एक परम जीर्ण पुरानी संचिका (कॉपी) भी थी जिस पर होल्डर द्वारा स्याही से इसकी प्रतिलिपि की

गई थी। कॉपी के कई पृष्ठ दीमक पूरे खा चुकी थी। जो उनका भोजन बनने से अंशतः बच गये थे उनमें भी कई बड़े-बड़े छेद थे। प्रतिलिपि के अन्त में लिखा था – **''संवत् १९६६ फाल्गुन कृष्ण १० रवौ पद्मनाभशर्मणा अलेषि''**। प्रतिलिपि के अनेक पृष्ठों पर स्थान-स्थान पर भी नवम्बर १९११ ई० से १९१२ ई० तक की विभिन्न तिथियाँ अंकित हैं जिससे स्पष्ट है कि इसकी प्रतिलिपि उक्त चार मासों में सन् १९११-१२ में की गई थी।

हमारी पाण्डुलिपि के अन्तिम पृष्ठ पर अंकित पुष्पिका में लिपिकार ने ग्रन्थकर्ता का नाम कालनाथ भट्ट दिया है और ग्रन्थ लेखन अर्थात् प्रतिलिपीकरण का समय निम्न प्रकार से स्पष्टतया उल्लिखित किया है–

शुभमस्तु। संवत् १५४६ समये अग्रहण वदि द्वितीया मंगलवासरे छ ।।

अतः पाण्डुलिपि के लेखनकाल के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं है। उक्त हिन्दू-तिथि ईसाई कालगणना के अनुसार ६ नवम्बर, सन् १४६२ ई० को पड़ती है। इस दिन नक्षत्र मृगशिरस् था (कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् दूसरा दिन)। अर्थात् मास की गणना पूर्णिमान्त है, अमान्त नहीं (अन्यथा कार्तिक कृष्ण द्वितीया का उल्लेख होता)। ग्रन्थ के उत्तर भारत में लिखित होने का भी यह प्रमाण है।

ग्रन्थ अपेक्षाकृत झीने पतले कागज पर लिखित है जिनकी लम्बाई-चौड़ाई २० से०मी० x ७.५ से०मी० (८" x ३") है। पाण्डुलिपि में कुल १८ पत्र हैं। प्रथम पत्र के ऊपरी भाग में ग्रन्थ का केवल शीर्षक ।। **अनङ्गसंजीवनभाण**।। दिया हुआ है, शेष में ग्रन्थ है। इस प्रकार ग्रन्थ के १८ पत्रों में कुल ३५ पृष्ठ हैं, और लेख अन्तिम पृष्ठ के निचले भाग तक गया है। जिस समय मातृका हमें प्राप्त हुई थी उस समय एक पत्र का ऊपरी एवं निचला, अथवा सीधा (recto) और उलटा (verso) भाग परस्पर जुड़ा हुआ नहीं था। एक पत्र को दो झीने कागजों से जोड़ कर बनाया गया था जो कालक्रम के विलग्न होकर थोड़े अव्यवस्थित भी हो गये थे, अतः पहला काम मैंने उनको परस्पर जोड़ने का किया।

ग्रन्थ की स्याही बहुत चटक नहीं है, या कहना चाहिए कागज के खुरदुरे

होने के कारण उसपर भली भाँति उभरी नहीं है। लिपिकार का अपना मंगलाचरण इस प्रकार है–

श्री दुर्गायै नमः । श्री गणेशनारदाभ्यां नमः। वागीश्वर्यै नमः ।।

सामान्यतः प्राचीन पोथियाँ गणेश की ही वन्दना से प्रारम्भ होती हैं, पर हमारा लिपिकार प्रथम प्रणाम दुर्गा को करता है। यहाँ तक तो ठीक है, पर गणेशजी के साथ नारदमुनि को जोड़ने का कारण मेरी समझ में अभी तक नहीं आया। विष्णुभक्ति से संबन्धित कोई ग्रन्थ होता तो बात समझ में आ सकती थी, अस्तु।

पत्रों में एक हाशिये से दूसरे हाशिये तक की लिखावट लगभग १६.५ से०मी० में है और लगभग दो–दो से०मी० का स्थान बाँई और दाहिनी ओर छोड़ा गया है। प्रत्येक पृष्ठ पर आठ पंक्तियाँ हैं जिनमें लगभग ४० वर्ण प्रत्येक पंक्ति में आये हैं। ग्रन्थ प्रायः शुद्ध है किन्तु समस्या यह है कि कहीं–कहीं रगड़ खा जाने से कुछ अक्षर संपूर्णतया या अंशतया ऐसे मिट गये हैं कि उन्हें पहचानना कठिन है। च, त, न, भ, र, श, आदि कई वर्णों के तथा कई संयुक्त-वर्णों के रूप पर्याप्त भिन्न हैं। ए की मात्रा प्रायः अक्षर के बाँई ओर ही लगाई गई है और ऊ की मात्रा वाम पार्श्व से प्रारम्भ होकर अक्षर की खड़ी रेखा पर समाप्त हो जाती है।

यद्यपि रचना की प्रतिलिपि करने में ग्रन्थ की उपर्युल्लिखित संचिका से सौकर्य हुआ तथापि श्रीपद्मनाभशर्मा के समय में ही पाण्डुलिपि की दशा काफ़ी खराब हो चुकी थी, अतः उनको भी प्रतिलिपि करने में बहुत सरलता नहीं हुई। प्राचीन लिपि का बहुत अभ्यास न होने से शर्मा जी की प्रतिलिपि में पर्याप्त अशुद्धियाँ भी हैं, तथापि इस परोक्ष सहायतार्थ, उनकी दिवङ्गत आत्मा को मैं आभारपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

कालनाथ की यह सुन्दर कृति सर्वग्रासी काल पर विजय पाती हुई कैसे आज तक सुरक्षित रह गई, यह महाकाल की ही लीला ही कही जाएगी। न तो इस ग्रन्थ की कोई अन्य प्रति किसी हस्तलेख संग्रहालय में परिज्ञात है और न ही हमारे कालनाथ के नाम से कोई अन्य ग्रन्थ ही प्राप्त होता है। वे० राघवन्

द्वारा प्रणीत हस्तलेखों के बृहत् सूचीपत्र में (भाग ४, पृ० २२–२३) कालनाथ भट्ट तथा कालनाथमिश्र नाम के दो लेखक और परिगणित हैं। प्रथम कालनाथ 'स्वयंभू' के पुत्र हैं और वाघरकुलीय 'महाराजदेव' नामक शासक की सभा में थे, ये १६ वीं शती के हैं, और हैं किसी शुक्लयजुर्वेदीय कर्मकाण्ड पद्धति के रचयिता, जो कोलकाता की एशियाटिक सोसाइटी तथा अलवर में उपलब्ध है। द्वितीय कालनाथ मिश्र वे हैं जिन्हें 'आत्रेय' गोत्र के श्री देवराजदीक्षित ने अपने पिता के रूप में 'शास्त्रदीपिका' नामक मीमांसाग्रन्थ की 'प्रभावली' नामक अपनी टीका में उल्लिखित किया है। इसका एक हस्तलेख मद्रास के अड्यार पुस्तकालय में संगृहीत है। यद्यपि अत्रि और आत्रेय, कश्यप और काश्यप, भरद्वाज और भारद्वाज आदि भिन्न गोत्र माने जाते हैं तथापि एक अति क्षीण सम्भावना फिर भी है कि देवराज हमारे प्रस्तुत लेखक के ही पुत्र रहे हों, यद्यपि न तो दक्षिण से कालनाथ का कोई संबन्ध प्रतीत होता है न ही मिथिला को छोड़ कर मध्ययुग में मीमांसा का कोई विशेष प्रचार उत्तर भारत में था, अस्तु। हमारे कालनाथ वाराणसी के मूल निवासी थे। उनका गोत्र अत्रि था, और उनके पिता का नाम पीताम्बर था। इससे अधिक सूचना उन्होंने अपने बारे में नहीं दी है।

अनङ्गसञ्जीवन (या अनङ्गजीवन) नाम के दो अन्य भाणों का उल्लेख भी प्रो० राघवन् ने अपने सूचीपत्र में किया है। प्रथम कोचीन राज्य के निवासी कोच्चुण्णि थम्परन् द्वारा रचित है और उसकी एक प्रति ट्रावनकोर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में है, दूसरी आत्रेय गोत्र के वरदाचार्य या अप्पय्यार्य की रचना है जो श्रीनिवासाध्वरी के पुत्र थे। इस रचना की प्रतियाँ अड्यार आदि कई दाक्षिणात्य पुस्तकालयों में प्राप्य हैं। हमारा अनङ्गसञ्जीवन इन दोनों से स्पष्टतया भिन्न है।

सम्पादन विधि

एक ही पाण्डुलिपि से किसी ग्रन्थ का उद्धार एवं संस्कार करना अपेक्षाकृत दुरूह कार्य है, समीक्षक इसे भलीभाँति जानते होंगे। इस ग्रन्थ के साथ एक और कठिनाई जो इसकी पाण्डुलिपि के ५०० वर्ष से भी अधिक प्राचीन होने से पाठ-संस्कार में जुड़ गई, वह यह है कि बहुत से अक्षर समय के प्रभाव से

घिसकर संपूर्णतः अथवा आंशिक रूप से नष्ट हो गये हैं (rubbed off)। इस ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ के ऊपर न तो कोई अन्य आवरण पत्र था, न ही वेष्टन। अतः उसी में सर्वाधिक क्षति हुई है। स्याही भी एकदम धुँधली पड़ गई है। उन्हें वापिस लाना विशेष चुनौती पूर्ण, कार्य था। कल्पना शक्ति की उर्वरता और उद्‌भावन-प्रवणता ही उसमें सहायक रही। इन्हीं का आश्रय लिया गया है। हाँ, जहाँ पर कोई लेखन त्रुटि ग्रन्थनिर्माता की नहीं अपितु ग्रन्थ के लेखक (=प्रतिलिपिकार) की जान पड़ी, वहाँ पाठ को ऊपर मुख्य भाग में शुद्ध करके छापा गया है जब कि पाण्डुलिपि का मूलपाठ नीचे पादटिप्पणी में दे दिया गया है। जहाँ हस्तलेख का पाठ चल तो सकता है, पर बहुत ठीक नहीं जँचता, वहाँ उसे ऊपर ही रक्खा गया है पर कोष्ठक में शुद्ध पाठ सम्बन्धी अपना सुझाव दे दिया गया है।

बाँई ओर भाण का संस्कृत पाठ और दाहिनी ओर अविकल हिन्दी अनुवाद छापने की मूलतः योजना थी, किन्तु वर्तमान स्थितियों में वह सम्भव नहीं लगा। वैसे इस भाण का आनन्द उठाने के लिये संस्कृत भाषा के बहुत गम्भीर वैदुष्य की अपेक्षा भी नहीं है, कथावस्तु का सार-संक्षेप भी उसमें पर्याप्त सहायक होगा।

हाँ, यदि कोई मेधावी छात्र भविष्य में इस ग्रन्थ का विस्तृत साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयास स्वीकार करे तो उससे इस रचना का भाषिक, काव्यात्मक तथा नाटकीय सौन्दर्य और निखर कर विद्वानों के सम्मुख आएगा।

यदि यह रचना विद्वानों का ध्यान अपने साहित्यिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षित कर सकी तो मैं अपने सम्पादकीय परिश्रम को सार्थक एवं स्वयं अपने को भाग्यशाली समझूँगा, इत्यलम्।

विनयावनत

प्रयाग — गयाचरण त्रिपाठी

जन्माष्टमी, सं० २०५८ वि०

(१२ अगस्त, २००१ ई०)

गीतगौरीवरस्य पाण्डुलिपेः १ ख-२क पृष्ठे

पाण्डुलिपेः १७ख-१८क पृष्ठे

पाण्डुलिपेः १७ख-१८क पृष्ठे

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः।।
— राजशेखरस्य



श्रीकालनाथ विरचितः

अनङ्गसञ्जीवनाख्यो भाणः

अथ

श्रीकालनाथविरचितः

अनङ्गसञ्जीवनाख्यो भाणः



भव्याकरचरणतलं

नव्यामृतकिरणतिलकमलिकान्तम् ।

सव्याङ्गमनङ्ग[1]रिपो-

रव्यादव्याजसुन्दरं युष्मान् ।।१।।

किञ्च –

तिर्यङ्निमीलितविलोलविलोचनं तन्-

निर्यन्मृदुस्मितसुधामधुराधरं वः।

स्विद्यन्मुखाम्बुजमखिद्यदकिञ्चनाङ्गं

हृद्यं रतं मृगदृशो मुदमातनोतु ।।२।।

नान्द्यन्ते सूत्रधारः–

[*समन्ततो विलोक्य सानन्दम्*]

अये कथमयमतिमहनीयमहिमा कुसुमाकरमहावीरो मन्मथमहारथ–सारथिरचिरप्रवृत्तोऽपि प्रथयत्येव निजमहिमानम्। इह हि–

केरलीकुचविकुञ्चनाञ्चित-

श्चन्दनाचलसमीरणो मृदुः।

कुन्तलीकुटिलकुन्तलावली-

चञ्चलीकरणचुञ्चुरञ्चति।।३।।

---

१. °भङ्गज

अपि च –

माकन्दे मकरन्दशालिनि कलं कूजन्ति पुंस्कोकिलाः
केलीकाननबालपादपलता[1]लम्बाश्च बिम्बाधराः।
पञ्चेषोरिषुसंचयेषु सरसं संचारिता चञ्चला
किञ्चासावपि चञ्चरीकपरिषत् पञ्चस्वरं[2] गायति।।४।।

तदिह ललितललनाजनचरणकिसलयसलयताडनविहसितानेकाशोक-वनिकाजवनिकातिरोहितसहस्रसहकारसाहससाहंकारकुरबकबकुलतिलकादि-नानाऽनोकहसमुदयसमुदयदभिनवकुसुमपरिमलितसकलहरिदन्तराले वसन्तकाले, भीमेनेव समरभीमेन, पार्थेनेव प्रतिहतप्रत्यर्थिसार्थेन, कन्दर्पेणेव विहतान्यलावण्य[3]दर्पेण, सुवर्णदानकर्णेन पुण्यकथापूर्णकर्णेन, कृतपापविलयेन, निश्चलकमलालयेन, अतिविमलगर्गवंशसफलतानिदानमुक्ताफलस्तबकेन, श्रीहरिश्चन्द्रपूर्वाद्रि[4]महेन्द्रेण, हरिप्रियाजठररत्नाकरसुधाकरेण, षड्विंशद्भूपालमौलिमिलदमलमुकुटघटितमणि-मयूख[5]मञ्जरीपिञ्जरितपादपीठेन, रिपुराजगरुडनारायणेन, वैभवजितदेवराजेन, श्रीमदिन्द्रशिखर[6]देवमहाराजेन, सततसमर्प्यमाणसपर्यासंतुष्टायाः श्रीकालिका-देव्याश्चैत्रयात्रोत्सवे प्रत्यासन्ना सकलकलापारीणपुरुषभूयिष्ठा परिषदेषा साभिलाषावलोकनेन मामाकारयतीव। तदस्याः समाराधने किन्नामानुरूपं रूपकं स्यात् ?

---

१. °तला
२. पञ्चाशयं गायति/ पञ्चासु गंगायति
३. लावन्य
४. पूर्वादिक् ?
५. मयूष
६. इन्द्रशेखर ?

[*स्मृतिमभिनीय*]

हन्तास्ति खलु निखिललोकपावनी वाराणसी नाम निःश्रेयसनगरी गरीयसी। तत्र चातिपवित्रमत्रिगोत्रमलंकुर्वन् सर्वङ्कषविद्योन्मेषः श्रीपीताम्बरात्मजः सकलदिगन्तवर्त्तिकीर्तिः कविचक्रवर्ती कालनाथो नाम। तेन विरचितमनङ्गसंजीवनं नाम भाणमभिनीय सभामेनामाराधयामि।

[*उपसृत्य, सप्रश्रयम्*]

भो भोः सामाजिकाः रसिकचक्रचूडामणयः सर्वान् एष वः प्रयोगरत्नाकरोऽहमभ्यर्थये। तदनुगृह्णीत मामभिमतप्रबन्धप्रयोगादेशेन। किं ब्रूथ? 'यथार्थनामैव भवान्'। 'किं तर्हि' ? 'श्रुतपूर्वा एव बहुशः पूर्वप्रबन्धाः। तदपूर्वः, कश्चिदभिनवः प्रबन्धः प्रयोगेऽधिक्रियाताम्' इति ? हन्त अस्मदभिलाषपोषक एव परिषदादेशो[1]ऽपि। सुघटितं तर्हि विधात्रा विधात्रा, यतः–

नानानागरिकैर्विलासरसिकैः सैषा सभा भूषिता
साहित्योपनिषन्निषण्यहृदयः श्री कालनाथः कविः।
नाट्ये किञ्चिदमी वयं च कुशलाः कालो वसन्तो रसः।
शृङ्गारः किल भाषणे तु[2]विजयी चानङ्गसंजीवनः।।५।।

[*नेपथ्ये*]

मेलनं कुमुदिनीशशाङ्कयोः
खेलनं हि तव चिन्तितैरलम्।
मित्रकार्यवशगेऽतिचुंकृतै-
र्बोधयन्ति कुमुदाकरं खगाः।।६।।

---

१. °देशापि
२. 'तु' पदं मातृकायां नास्ति।

[*कर्णं दत्त्वा*]

अये, कथमुपक्रान्तमेव निजकलाकौशलं कुशीलवैः, यदयमस्मन्मातुलेयः कलानिधिरङ्गीकृतमलयकेतुभूमिकः केनचिदप्यन्यापदेशेनानुमीयते ?

तदहमप्यनन्तरकरणीयाय सज्जीभवामि।

[*इति निष्क्रान्तः*]

।। प्रस्तावना ।।

[*ततः प्रविशति मलयकेतुः*]

मलयकेतुः – [*'मेलनमि'त्यादि पठित्वा सहर्षम्*]

सम्यक् नः समीहितम्। तथा हि–

कुपितां प्रियसखिदयिता-
मनुनेतुमिहादृत[1]प्रतिज्ञं माम्।
चिन्ताकुलमनुगुणया
सिञ्चति यदयं सुधामुचा वाचा।।७।।

साधु, शैलूषवर साधु। तदनेनैव शकुनेन साधयामस्तावत्। [*इति परिक्रामति*]

[*प्राचीमवलोक्य*]

कथमयमुदयाचलशिखर[2]मधिरूढ एव भगवान् मरीचिमाली ?

---

१. °धृत ? (आधृतप्रतिज्ञं)

२. °सिषर

[*साञ्जलिबन्धम्*]

सिन्दूरसुन्दरकराय दिवाकराय
दृप्यत्तमःशमकराय शिवाकराय।
भक्तोपदर्शितफलाय मुदालयाय
तस्मै नमोऽस्तु करुणावरुणालयाय।।८।।

तदस्माकमप्ययमेव मित्रकार्यानुसन्धानसमुचितः समयः।

[*इति परिक्रम्य पुरतोऽवलोक्य*]

कथमियं सा समदमृगमदघनघनसारसारसरसमसृणघुसृणविसृमरबहल–परिमलपूरपरिपूरिता[1]न्तराला सौगन्धिकवीथी। तदितो नातिदूर एव गन्तव्या सा वीथी।

[*कतिचित् पदानि गत्वा*]

हन्त, समासादितैवैषा कुमुद्वतीभवनगामिनी रसिकजनसंजीवनी विषवीथी। इयं हि–

कनककलशदीप्तिद्योतिताशान्तारालै-
रगुरुपरिमलान्तर्वासनोद्गारजालैः
गगनगमनखिन्नासीन[2]नानाविमानै-
रिव माणिमयहर्म्यैर्भूषिता वेशवीथी।।६।।

अहो शृङ्गारवैभवयोः परमसीमा खल्वियम्[3]। तथा हि अस्याम्–

---

१. °मलपरिपूरिपूरिता°
२. °सीर°
३. खल्वयम्

वेश्याश्चामरमार्जित-
चन्दनवेदीर्विलिप्तहिमनीरैः।
रचयन्ति रङ्गवल्ली-
मृगमदघनसारघुसृणचूर्णचयैः।।१०।।

[*अन्यतोऽवलोक्य*]

अये, केयं दर[1]चलकिसलयसहचराधरा परावर्त्यमानतालीदला ऋतुस्नातेवालक्ष्यते ? [*निरूप्य*]

कथं पद्मावतीतनया कलावती ? इयं हि–

बन्धूकबन्धूकृतमर्पयित्वा
पुष्पेषवे पुष्पमपूर्वमेकम्।
स्नात्वा सुशीत्कारमनोजमन्त्र-
मावर्त्य रक्षातिलकं विधत्ते।।११।।

तदनुचितमेनामसंभाष्य अन्यतो गन्तुम्। स्मृतं हि भगवता वात्स्यायनेन–

धर्मयोषिदुपभोगतः परः
स्पर्श एव परयोषितस्ततः।
स्वैरिणीसमनुभाषणं ततः
पुष्पिणीमुखमहोत्पलेक्षणम्।।१२।।

[*उपसर्पन् सोत्साहम्*]

सिन्दूरबिन्दूपहिताग्रभाला-
मिन्दीवराभामरविन्दनेत्राम्।
इन्दूपलालिन्दगतामुपेतुः
किं दूरगा मन्मथमन्त्रसिद्धिः।।१३।।

---

१. दरन° (?)

तदिह बालरसालमूलमवलम्ब्य यावदवसरमात्मानं विनोदयामि। अहो सर्वावस्थाकमनीयमस्याः स्वभावसौन्दर्यम्। तथा हि–

सख्या सूक्ष्मसितांशुकाञ्चलमिलत्पाण्या रणत्कङ्कणम्
व्याकीर्णां कबरीमुपाकृतघनाशङ्कां क्षणं बिभ्रती।
दृष्ट्वा केलिकलापिनं परिगतं व्रीडाश्लथं बध्नती
बाहूत्क्षेपविलक्षितस्तनतटी साचीकृता शोभते।।१४।।

तद् यावदियं सजिह्वाग्रपीडमभ्युत्थाय न मामाकारयेत् तावदन्यतो गच्छामि।

[*परिक्रम्य अवलोक्य च*]

कथमिदं तन्मालतीभवनम् ? तदस्यै प्रियवयस्यस्य मधुकरस्य संदेशं[1] निवेद्यैव अनन्तरकरणीयाय प्रयतिष्ये।

[*प्रवेशमभिनीय*]

हञ्जे हंसिनी ! अपि नाम अस्मत्प्रियसखी मालती इह सन्निहिता? किं ब्रवीषि ? भूषाविधिमन्तर्निर्वर्तयतीति ? तर्हि तूष्णीमास्स्व। यावदविदितपदाऽहमेनां पश्यामि।

[*मन्दं मन्दम् उपसर्पन्, आत्मगतम्*]

कथमनया समन्दहासमालपन्त्या हंसिन्या निजस्वामिन्याः किमपि निभृतकर्मावेदितम्

भवतु, तदत्र सन्निहितसूक्ष्मगवाक्षमार्गेणैव उपलब्धवृत्तान्तोऽन्तः प्रविशामि।

---

१. संदेसं

[*तथा कुर्वन्*]

अहो वेशवनितानां कार्मणकर्मठता ! तथा हि –

सताम्रचूडासनसंनिवेशा[1]

सखीषु संसाधित-[2]**धूपधूमैः।**

वराङ्गमाधूपयतीयमत्र

वराङ्गना पादशिरोऽवगुण्ठ्य।।१५।।

तन्नायमवसरः प्रकाशयितुमात्मानम्। तदन्यतो गच्छामि।

[*इति निष्क्रम्य, सस्पृहमवलोक्य च*]

अहो सृकृतपरिपाकः परमानन्दमन्दिरस्यास्य मिथुनस्य, यतः –

उपवनतरुमूलासीनमीनेक्षणाली

वलयितमणिवेदीमध्यमध्यास्य काचित्।

प्रखरनखरलेखन्याप्तकीलैः सुरम्यैः

पुलकिनि कुचकुम्भे चित्र्यते वल्लभेन।।१६।।

तदत्रात्मप्रकाशनेन नानयोरन्यमनस्कतामुचितमारचयितुम्।

[*अग्रतो गत्वा ऊर्ध्वमवलोक्य*]

का पुनरसौ पवननर्तितपल्लवानुकारिणाग्रकरेण मामाकारयतीव? किमियं मन्दारमालाप्रियसखी मदयन्तिका ? अयि मदयन्तिके, किमेवं संज्ञापयसि ? किं ब्रवीषि – भवतामपि तथैव व्यवहर्तव्यमिति ? भवतु, करपल्लविकयैव विदितवृत्तान्तस्तदनुकूलं व्यवहरिष्यामि। कथमियं कलहवार्तामिवावर्तयति ?

---

१. संनिविष्टा ?

२. सखीसुसंघाधित (?)



उपवनतरुमूलासीनमीनेक्षणाली

(श्लो० १६)



अभिनयति शब्दानर्थानपरा रसांस्तथैवान्या।

(श्लो० ४३)

[*विमृश्य*] आः, ज्ञातम्। मन्दारमालामकरन्दयोर्द्यूतनिमित्तः कलहोऽङ्कुरितः। तत्समाधानायाहमिह सन्निहिता, भवताप्यागन्तव्यमिति मदयन्तीचेष्टार्थः। [*सावहेलम्*] अयि मुग्धे –

किंनाम मलयकेतोर्दुष्करमुररीकृतकार्यस्य।
हेलालङ्घितजलधेः का श्लाघा हनुमतः सरस्तरणे।।१७।।

एष कलहाङ्कुरमन्मूलयामि।

[*प्रविश्य*]

कथं केलिदुरादरतिरोहितमानसाभ्यामहमतिसन्निहितोऽपि नालक्ष्ये[1]!

[*निर्वर्ण्य*]

करकिसलयमक्षैर्लालयन्ती विलोलै-
रतिचतुरवयस्या वेष्टितान् प्रत्यगान्तान्।
परिणतफणिवल्लीपल्लवानग्रवृन्तै-
र्मदयति दलयन्ती हन्त चित्तानि यूनाम्।।१८।।

[*प्रकाशम्*]

वर्द्धतां प्रियवयस्यः सप्रियः[2] क्रीडारसेन! किं ब्रवीषि? 'अनवधानं क्षन्तव्य'मिति? सखे किमिदमुच्यते?

इदमुचितमिदमनुचितमितिमतिरन्तर्विवर्तते यस्य।
कथय कथमयं सुहृत् स्यात् स्नेहस्तेनो हि तादृशः पुरुषः।।१९।।

किं ब्रूषे? 'क्षणमास्यता'मिति? [*सदृगन्तसंकोचम्*] यदि प्रियतमा ते कथयिष्यति। कथमियमपि समन्दहासं मन्दाक्षेण मदुपवेशनमनुमनुते? [*उपविश्य्*] अयि सुदति, किमेवमसमय एव बिम्बाधरं स्फोरयसि?

---

१. **नालक्षे**
२. **सप्रिया**

किं ब्रवीषि ? 'वञ्चितास्म्यहमनेनादिकितवेन' ? अलमलमावेगेन ! पणस्तावत् प्रकाश्यताम्। किं ब्रवीषि, 'प्रियवयस्य एव स्वीयः प्रष्टव्य' इति। अवितथमाह मन्दारमाला। तदुच्यतां भवतैव। किं ब्रवीषि, 'विना पक्षपातं निर्णेतव्य'मिति ? [*आत्मगतम्*] अग्रणीः खलु नागरिकाणाम् ! [*प्रकाशम्*] विदितचरैव युवाभ्यामस्मत्पक्षपातता। तदलं बहुविमर्शेन। वर्ण्यतां पणः। किं कथयसि ?

सार्द्धं शतं साहस[१]चुम्बनानां
साधारणः संविदितः पणो नः।
द्वित्र्यादिवृद्धिस्तु मिथो जिगीषा-
संवर्द्धितागण्यगुणा हि सैषाम्।।२०।।

अभिज्ञश्चास्य पणप्रपञ्चस्य वयस्यः'। किन्नाम मन्यते भवती ? कथमियवचनैव तिष्ठति ? भवतु। अयि सुदति –

अपि लाभकरः पराभवः
सहनीयः सुधिया न कर्हिचित्।
इति यद्यपि मानिनां स्थिति-
स्तदपि त्वं कुरु मद्वचो गुरु (लघु ?)।।२१।।

शतगुणमात्मपणं प्रत्यावर्तय। अलं विलम्बेन।

विजने निजबाहुपाशबद्धं
व्रज नेतुं नखशिक्षितानि धूर्तम्।
त्वमपि प्रभुतां सहस्व सख्याः
निजकार्याणि वयं च साधयामः।।२२।।

[*मदयन्तीकर्णे*] एवमेव (°मिव ?)।

[*सहैव निष्क्रम्य*]

अये केयं वामतो वामाक्षी चिन्तापरवशेवालक्ष्यते ? कथमियमनङ्गमञ्जरी

---

१. सारस°

मञ्जीरिण्या प्रबोध्यते ? किं नाम चिन्तानिदानम् ? भवतु, ज्ञास्यामि [*इत्युपवर्ण्य*], इयं हि–

गलदञ्जनजलकणिकानीलमणीखनिकफोणिका तन्वी।
विशदयति विरहपीडां करकिसलयकान्तिपाटलकपोला।।२३।।

कथमियं[1]मतिसन्निहितमपि मामनाभाष्याधोमुखी ? बलवती खलु विरहवेदना ? भवतु। एनां पृच्छामि। हञ्जे मञ्जीरिणि, कुतः पुनरियमीदृगवस्था ? किं वदसि ? 'प्ररूढप्रणय आवन्तिको वसन्तदत्तनामा वणिक्प्रियतमोऽस्याः पापयाजमन्वाददानोऽपि बहुधनावेदन[1]निमित्तं परुषं भाषितः। ततः प्रभृति सोऽपि मानवदग्रणी प्रथमप्रणयमनुस्मृत्य, प्रस्थापयन्नपि नानावसूनि, स्वयं नायात्येव[2]। तन्निमित्तोऽयमस्या अवस्थाविपाक' इत्यहो वेशवनितानामपि स्वारसिकप्रणय इति महदिदं चित्रम् ? अथवा इमा एव अभिज्ञाः सर्वभावानाम्–

कार्यव्यग्रतयैकोंऽशो, लज्जयाऽन्यो, भियाऽपरः।
इत्यप्राप्तः कुलस्त्रीभिः क्वास्तां वेश्यां विना रसः।।२४।।

किं ब्रूषे ? 'श्रीमतापि प्रबोधनीये'ति ? उचितमेवैतत्। इयं खलु नः प्रथमप्रेमसीमा। [*उपविश्य, सचिबुकग्राहं मुखमुन्नमय्याश्रूणि मार्जन्*] अयि सुदति, किमेवमतिकातराऽसि ? किं ब्रवीषि ? 'यावदियं नो जरती, कुतस्तावन्मम कातरतामन्तरा सुखलेशोऽपि' ? किमसत्यं भाषसे ! पश्य–

अतिकुटिलकोटिकपटा
कटुरटनपटीयसी च विकटास्या।
द्रविणाकर्षणनिपुणा
गणिका जीर्णा हि शृंखला दुहितुः।।२५।।

तदलं विषादेन। भगवती काली करिष्यति श्रेयस्ते ! अचिरेणैव कालेनैषा

---

१. **बहुधनं वेदन°**
२. **स्वपन्न याति**

याति यमसदनम्। बोधनीयश्च सर्वथा प्रियसुहृद् वसन्तसेनो मयापि। [*गाढमालिङ्ग्य*] सुमुखि, कार्यगौरवेण सत्वरमन्यतो गच्छामीति न स्वच्छाशययाऽनुचितं मन्तव्यम्। [*कर्णं दत्त्वा*] को नु खलु कोलाहलः ? तदास्यतामत्रभवत्या। साधयामो वयम् [*इति निष्क्रम्य निरूप्य च*]

हन्त भव्यं कौतुकस्थानम् ! एते हि श्रीकण्ठप्रभृतयः प्रधानविटाः वटविटपालम्बिहिन्दोलान्दोलनबहलभावसत्राससाधारणसीमन्तिनी-विधीयमाननानावैक्लव्यकलभाषितसंजातकौतुकाः सहस्रतालसंघट्टम् अट्टहासैरापूरयन्त्याशान्तराणि। तदेतानुल्लङ्घ्य नाग्रतो गन्तुं समुचितम्। श्रेयःप्रतिबन्धको हि पूज्यव्यतिक्रमः[1]। क्षणं विश्रम्यैतानुपास्महे। [*पुरतः उपसर्पन् निर्वर्ण्य*] अये कथमियं[2] सा विलासवती ? हन्त, तर्हि अवश्योपगन्तव्यः समाजः। इयं हि—

घनच्छाये रम्ये वटविटपिनि प्राप्तचपला
विलासा सोल्लासा सुललितवयोवेषमधुरा।
वसाना कौसुम्भं वसनमवशं कं न कुरुते।
दधाना संरम्भं कृतकमनुहिन्दोलनरयम्।।२६।।

दृष्टमेव द्रष्टव्यम्। अलमिह विलम्बेन। एताँश्च परस्परपरिहास-परानलक्षित एव प्रदक्षिणीकृत्य त(ता?)मनुसरामि।

[*तथा कुर्वन् कतिचित् पदानि व्यतीत्य सग्रीवाभङ्गमवलोक्य*]

आः, केयमग्रतो मदिरातुरेव लुठन्ती लक्ष्यते ?

[*निरूप्य*] किमियं दर्दुरिका ?

---

१. Cf. *"प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः"।*
इति रघुवंशे (१/७६) कालिदासः।

२. °मयं

निराशङ्कं नीवीनियमनमनादृत्य पतिता
नितान्तं व्यादानात् पृथुलगलमूला पथि पुरः।
जरत्येषा बाला स्मरविवरसंरोधनपरा
पराभूता केनाप्यहह विकरालं विलपति।।२७।।

कोऽन्यः कलहंसकादेनां पराभवितुं प्रभवति ! स हि कैतवेनैव एतत्तनयां कनकरेखा[१]मनुभवन्ननया कदर्थ्यते। तदद्य कुतश्चिद् व्यपदेशात् तेनैवेयं शिक्षितेति किमनया नस्तया[२]। तदिदमकथितमपि ज्ञायत एव। आस्तां तावत् तदियमप्रस्तुतप्रस्तावना। अपरिहार्यः खलु कलहंसदर्शने विलम्बः सुत्वरितमितो गच्छामि।

[*तथा कुर्वन् कर्णं दत्त्वा*]

कथमयं माध्याह्निको मृदङ्गध्वनिः?

[*ऊर्ध्वमवलोक्य*]

अहो भगवतः प्रचण्डचण्डता चण्डरश्मेः ! संप्रति हि–

उपवलभिविटङ्के शङ्कया तिग्मभानो-
रनुमिथुनमपीदं शिक्षयत्यक्षियुग्मम्।
तरलसरलचञ्चूचालितान्योन्यपक्ष-
श्रयणकुशलकण्ठं कुण्ठितारावमास्ते।।२८।।

अपि च–

सरससरसमुस्तोशीरमासीमृणाल-
प्रगुणिततृणभित्तिश्रेणिवेश्म श्रयन्त्यः।
अभिसृतिकृतसख्यं पालयन्तीव नार्यः
खरकरकरभीतं वल्लभैरन्धकारम्।।२९।।

---

१. कनकरेषाम्

२. किमनयात्तया

तदत्र प्रखरदिनकरकरनिकरव्यतिकरस्फुरत्तरतरणिकान्त-कुड्यनितान्तवान्ततेजःपुञ्जपिञ्जरितदुःसञ्चारायामस्यां वेशवाट्यां क्व नु खलु विनोदनीय आत्मा मया ?

[*इति परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य, सविस्मयम्*]

कस्य खलु कौतुकस्य नेयमावासभूमिर्वेशवाटी, यतः कश्चिदयमेतादृश्यपि समये समाप्तसंसारसुख इव कौपीनमात्रपरिकरो लज्जावनतवदनः संचरन्नपि वेशवीर्थी व्याकुलयतीव मे हृदयम्! [*विभाव्य सकरुणम्*] कथमयं मेदपाटदेशीयो घोटकवणिक् अकरुणया कयापि सर्वस्वग्राहं निगृहीतः सुगृहीतनामा दशामेनामनुभवति। अनुचितं खलु अतिलज्जितमेनमारचयितुमात्मप्रकाशनेन। तदिह सन्निहितोपायवीथ्या व्यतिक्रम्य कतिचित्पदानि प्रधानवीथीमनुसरिष्यामि।

[*इति तथा कुर्वन् पार्श्वतोऽवलोक्य सकौतुकम्*]

तुलाकोटिप्रान्तक्वणनचणचेटी[1]करवलद्-
वराटी-वाचाटीकृतविटवधूटी गृहतटी।
नटीघोटीराजन्मदननृपधाटीपटकुटी-
कपाटीखल्वाटीरचितपरिपाटीकृतवटी।।३०।।

[*अग्रतो गच्छन् सहासलज्जम्*]

अये ईदृशीमपि दशामापन्नो मलयकेतुर्यदनया सद्यःस्वीकृत-ताम्बूलजनितरागपरीक्षापरैकतरकरकृष्यमाणा[2]धरया काचकङ्कणरणत्कार-मुखरितपरिसरया साट्टहासमनुयान्त्या कयापि कामिनीचिह्नमात्रधारिण्या स्वैरिण्या प्रत्यावर्त्यमानमात्मानमञ्चले गृहीतं मन्यमानस्त्वरितपदं व्रजामि ! तदतो

---

१. चोटी
२. कर्ष्यमाना° (?)

मत्कुणभिया परित्यक्तशय्यस्य वृश्चिकवेधवेदनानुभवः। तद्यावदेतादृगवस्थं मामन्यो न पश्यति तावत् प्रधानवीथीमेव गच्छामि।

[त्वरितपदं व्रजन् वीथीमुपलभ्य पश्चादवलोक्य सोच्छ्वासम्]

कथमियं सवैलक्ष्यं परावृत्ता दुर्वृत्ता ग्राम्यनटी ? दिष्ट्या न केनचिदालक्षितोऽस्मि। असम्भावना हि सम्भावितस्य यावज्जीवं हृदयशल्यम्। तदग्रिमवकुलच्छायायामपाकृतायासः परितो गच्छामि।

[पुनः कर्णं दत्त्वा]

मुरजनिनद एष प्रावृषेण्याम्बुवाह-
प्रतिरसनगभीरस्तालसंपूर्तितारः।
विशदयति सुलास्यं[1] मञ्जुमञ्जीरशिञ्जा-[2]
रवसहचरचारुः कर्णपीयूषसारः।।३१।।

तदलमत्र विलम्बेन। परिसरशालिनि कालिकायतन एव नृत्तादिकौतुकेनात्मानं विनोदयामि।

[कतिचित्पदानि गत्वा, अग्रतोऽवलोक्य]

कथमिदं तत्कालिकायतनतोरणम्?

रक्तैरक्षतपुष्पचन्दनरसै रक्तोत्तमाङ्गा यतः
छागा नागरिकोपरुद्धविचलच्छृङ्गा दृढाङ्गा पुरः।
हन्यन्ते शतशः कुतूहलकलासंरब्धकोलाहलैः
स्वैरं साहसिकैः कृपाणलतिकाहस्तैः प्रशस्ता अमी।। ३२।।

यतश्च–

मध्यस्थापितपादुकाद्वयमहादेवीनिखातोन्नत-
स्तम्भद्वन्द्वनिषण्णदारुविवरप्रोतत्रिशूलाश्रया।

---

१. लिहास्यं° (?)। सुलास्य is an editorial *emendatio*.

२. सिञ्जा°

मन्दान्दोलितपल्लवेन मरुता हिन्दोललीलायिता[1]

सिन्दूरद्युतिनिन्दनैकनिपुणा सैषा पताकेक्ष्यते।।३३।।

[*नाट्येन प्रविशन्नग्रतो निरूप्य*]

कथमयं स आनन्दभैरवः?

सिन्दूरसुन्दरकपोलकपालमाला-

हेलावलोकनसकौतुकमानसोऽपि।

व्यालावलीवलयवैभवभीषणोऽय-

मानन्दभैरव इति प्रथितो हि देवः।।३४।।

[*साञ्जलिबन्धम्*]

भगवन्, साधकसंकल्पकल्पद्रुम, नमस्ते, नमस्ते

[*इति प्रणम्य, कर्णं दत्त्वा*]

कः पुनरयं कलकलः ? भवतु। विदितवृत्तान्त एव अन्तरायतनं प्रविशामि [*इति विभाव्य*] कथममी कापालिकाः कौलिकमतेन कमपि दीक्षयन्तो दाक्षायणीं कुम्भे साक्षात्कृतामिव सभैरवामभ्यर्थयन्तः कलकलायन्ते ? सम्प्रति हि—

करकलितकपाला तालहालारसाला

पृथुलतरकपोलस्विद्यदत्युग्रभाला।

मदहसितकरालीमर्चयत्या[2]दिकाली-

मुपहृतरुधिरालीमत्र कापालिकाली।।३५।।

कः पुनरिह सिद्धिकामः प्रार्थयते ? [*निरूप्य*] हन्त, अस्मद्वयस्यो धनदत्तनामा सांयात्रिकः सर्वतो मुण्डितमुण्ड एवं विडम्ब्यते ! अनुभवतु नाम स्वकर्मफलमेष दुराचारः।

---

१. °लीलामिता

२. °अर्चयन्ति

श्रुतं हि, सर्वस्वग्राहं निगृह्य मदयन्तिकया निर्वासितेनानेन चोरसहायेन स्वपत्न्यास्तस्या अपहृतान्याभरणानि। द्यूतवेदिकायामभिव्यक्तानि विज्ञाय, नागरिकस्यादेशेन[1] अयं वध्य- वेदिमुपानीतस्तयैव, विटान्तरानादरम् आत्मनि आशङ्कमानया, मोचित इति। भवतु नाम । यथा तथा[2] कुतूहलमाकलयामि।

कथममी कृतकुलोचितस्वेष्टदेवतासपर्याः पर्य्यायेण अपरमपि विधातुं यतन्ते ? तथा हि–

स्निग्धैरलावुचषकैः परिपीय हाला-
माघूर्णमाननयना नयनाथमुख्याः।
गायन्ति हन्त विहसन्ति विडम्बयन्त
आयान्ति यान्ति निपतन्ति च कौलिकेन्द्राः।।३६।।

[*सस्पृहं निर्वर्ण्य*]

अत्रैव अपरमपि !

काहलीकृतकुरङ्गशृङ्गिका
काकलीकलनकोमलाशया।
कालिकेव कलया कपालिनं
कापि नर्तयति कामयोगिनी।।३७।।

[*पुनर्विभाव्य सजुगुप्सम्*]

आः, कथमुपक्रान्तमेवैतैः स्वसिद्धिकौशलं प्रकाशयितुम्[3] !

---

१. **नागरिकस्यालेन**
२. **यं यथा**
३. **प्रकाशयितुः**

भङ्क्त्वा[1]लावुशतानि मौलिषु, मिथो मिथ्याप्रलापोत्कटाः
छित्त्वा चैव कटासनानि[2] परितो मोहान्नयन्तः क्षणात्।
मुष्टामुष्टिकदारुणं व्यवसिता योद्धुं निरस्तत्रपाः
पाषण्डा, धनदत्त एष तदपि श्रद्धालुरेतेष्वहो।।३८।।

तदत्र न स्थातुमुचितम्। अन्तरेव गच्छामि।।

[*प्रविश्य सानन्दम्*]

कथमियं सा भगवती भक्तजनकामधेनुः कालिका ?

[*अञ्जलिं बद्ध्वा सभक्त्यतिशयम्*]

शिखरपतिसम्भवायै भवार्द्धवपुषे भवाब्धितारिण्यै।
शिखरपतिवंशदेव्यै प्रणतिर्मम भवतु कालिकादेव्यै।।३९।।

[*सपरमानन्दम्*]

कथं सकलजगज्जनन्या देव्या प्रसादितमेव पुष्पम् ? तदनुगृहीतोऽस्मि भगवत्या। तेनात्र वृत्तसंकल्प एव यावदातपनिवृत्ति विनोदयामि।

[*तथा कुर्वन्निर्वर्ण्य*]

काले खलु समागतो यदेताः कलावतीप्रभृतयः प्रधाननर्तक्यः संगीताय सज्जीभवन्ति। यतः –

मुखरयति कापि मुरजं मुरलीं तरलयति काचिदङ्गुलीभिः।
कलयति काहलमपरा तालं वा लम्बते तथैवान्या।।४०।।

अपि च–

द्रढयति काचन काञ्चीमितरा विमलयति मञ्जु[3]मञ्जीरम्।
हस्तकमेका कलयति नान्दीमपरा च पठति नेपथ्ये।।४१।।

---

१. **भञ्जा°** (a doublette for भङ्गा meaning *hemp*, Hindi भाँग ?).
२. **कटाशनानि**
३. **मुञ्ज°**

[*विभाव्य*]

फलितं खलु प्रसादकुसुमेन। यतः–

एताश्चित्रगता इव प्रथमतः स्पन्दाय मन्दाधराः
कञ्चित्कालमधो निधाय सलयं द्वित्रा गतीर्मञ्जुलाः।
सानन्दं कमलासनाय कुसुमान्याकीर्य पश्चात् पदं
गच्छन्त्यो रचयन्ति हन्त विवशं रङ्गं कुरङ्गीदृशः।।४२।।

[*निर्वर्ण्य*]

कथमुपक्रान्तमेवैताभिर्निजकलाकौशलं प्रकाशयितुम् ? तथा हि–

अभिनयति शब्दानर्थानपरा रसांस्तथैवान्या।
कथमिह विचित्रतायां सहस्रनेत्रं विना परो द्रष्टा।।४३।।

[*एकतोऽवलोक्य*]

अहो मधुरता तालावसान[1]विश्रान्ताया एतस्याः–

करकिसलयेनैकेनादौ नियम्य दरश्लथां
कनकरशनामन्येनालम्ब्य चालितनूलताम्।
मृदुलसिचयोपान्तेनावीज्य वीतपरिश्रमा
पुनरियमये सज्जीभूय प्रनर्तितुमीहते।।४४।।

[*अन्यतोऽवलोक्य सस्पृहम्*]

अञ्चलेन चिबुकानुकम्पिना किञ्चिदावृतकुचद्वयान्तरा।
कञ्चुकापनयनेन चेतसां सञ्चयं किमियमीहते[2] नृणाम्।।४५।।

---

१. मधुरतालावसान° (due to haplography)
२. किमिहमीहते

[*स्मृतिमभिनीय*]

साङ्गहास्य[1]करणं सहस्रकं लास्यमेतदति चारु हारि[2] च।
पश्यतो मम तन्मयं मनो मित्रकार्यमपि विस्मरत्यदः।।४६।।

तदिदं समाप्तकल्पमेव। प्रकृतं चिन्तनीयम्।

[*प्रतीचीमवलोक्य*]

हन्त प्रहरावशिष्टो वासरः। तत्सत्वरं गच्छामि।

[*इति परिक्रम्य, अग्रतोऽवलोक्य*]

अये, केयं कुवलयाक्षी ? [*निरूप्य*] कथं शृङ्गारमञ्जरी शुकं शिक्षयति ? संभाषणीया खल्वेषा। [*उपसृत्य अर्धासनोपवेशनं नाटयन्*] सुमुखि, कुशलिनी वर्द्धसे ?

धन्योऽयं शुकपोतकः प्रतिदिनं पाणिग्रहो येन ते
शृङ्गारी खलु सोऽयमेव सततं यत्त्वन्मुखालोककः।
धूर्तोऽप्येष सुशिक्षितोऽपि शनकैर्यो[3] नायमाभाषते
त्वद्वाक्यामृतपानलालसतया, भाग्यस्य किं दुर्लभम्।।४७।।

[*गाढमालिङ्ग्य, मुखं चुम्बन्, सस्पृहं निर्वर्ण्य*]

सखि, त्वमनीतिपरेव लज्जसे। कुतः[4] ?

[*आवर्त्य, पश्चाभिमुखं[5] विलोक्य, स्वगतम्*]

अये कथमियं कुरङ्गिका मुहुर्मुहुरितो दत्तदृष्टिः सस्मितं परावर्तते ? तदन्तररस्ति

---

१. हार (?), The reading is doubtful.
२. वारि
३. र्य्ये
४. यतः
५. आवर्तयस्याभिमुखं



धन्योऽयं शुकपोतकः प्रतिदिनं पाणिग्रहो येन ते

(श्लो० ४७)



कुतः पुनरेषा सचिन्तेवाधोमुखी मुरलिकया मन्त्रयते

(पृष्ठ ५२)

कश्चिद्, यतोऽनयाप्यनन्यमनस्कया एवाहमादृतः[1]। तदिह न युक्तं विलम्बितुम्। [*प्रकाशम्*] साधयामि तावत्। अयुक्तः खलु कार्यातिपातः। प्रत्यावर्तनसमय एव[2] भवती सम्भावनीया[3]।

[*इति कुचतटमस्याः परामृशन्नुत्थाय, परिक्रम्यावलोक्य च*]

केयं वामतो वामाक्षी ? [*विभाव्य*] किमियं कुवलयमाला कन्दुकक्रीडां करोति?

[*उपसृत्य*]

अहह–

कुचनिकुच[4]मानवहनापराधयोगीव ताड्यते त्वनया।
कन्दुक एष च भूयो भूयः परिपतति पादयोरस्याः।।४८।।

कथमियं केलिपरवशतया न मामन्तिकस्थमपि जानाति ? भवतु। ममापि महती कार्यव्यग्रता। तदग्रतो गच्छामि।।

[*कर्णं दत्त्वा*]

कोऽयं पौरन्दरीं दिशमध्यास्ते कोलाहलः ? भवतु, पुरतः कुतश्चिद् गत्वावगच्छामि।

[*गच्छन्नग्रतो दृष्ट्वा*]

कथमियं प्रीतिमञ्जरी ? आः कुतः पुनरेषा सचिन्तेवाधोमुखी

---

१. आवृतः

२. समयेव

३. सम्भवनीया

४. निकुच is a word which has not yet found entry into any dictionary. If this is orthographically correct, it may mean resemblance (सादृश्य) or even shape/ form; (मानं = measurements).

भित्तितल[1]मवलम्ब्य मुरलिकया मन्त्रयते। एतदेव कोलाहलकारणं सम्भाव्यते। तदखिलमित एव ज्ञातव्यम्। [*उपसृत्य*] सुदति, कुत एतत् तदसामयिकं गद्गदस्वरम् ? किं भणसि– 'भाव, अकारणवैरिणो हि पिशुनजनाः। तदस्यां रात्रौ मातुलगृहं गतया, मया सह तत्सुतं समालपन्तमालोक्य तच्चेट्या तरलिकया विजयसेनताम्बूलवाहक- बद्धानुरागया, तस्य[२क] पुरतो मिथ्यैव 'भद्रसेनसंभाषिणी ते स्वामि'वधूरित्य- हमसतीकृता[२ख]। ततश्च विदितवृत्तान्तो विजयसेनो मामनाभाष्यैव तेन सह बद्धवैरः सशस्त्रो निरगात्। सोऽपि कुतश्चिदवगताखिलोदन्तो दन्तान्निष्पीडयन् सन्नद्ध एव सन्निहित, इति न जाने किं करिष्यति दैवम् !'? [*समन्दहासमात्मगतम्*] किमपरं त्वत्पातिव्रत्यभङ्गाद् ऋते विधास्यति विधाता ! [*प्रकाशम्*] सर्वतः कुशलमेव। तदनुरुन्धे गन्तुम्। वयमपि तत्रैव गत्वा तयोः कलकलं निवारयामः।

[*परिक्रामन्नग्रतोऽवलोक्य सकौतुकम्*]

कथमुपक्रान्तमेवैताभ्यां[3] वीरविजृम्भितम् ! साधु रे विजयसेन, साधु ! अयं हि–

करालकरवालिकारसनकम्पनोत्तालित-
स्फुरद्भुजभुजङ्गमप्रशमितारिवक्षोऽनिलः।
पुरःसरति सम्प्रति प्रतिभटं प्रति त्यक्तभीः[४]
सचन्द्रहरिचन्दनद्रवविलिप्तगात्रो भटः।।४६।।

[*पुनर्निरूप्य*]

अहह, महावीरता भद्रसेनस्यापि ! यतः –

---

१. तूल°
२क–२ख. The reading from तस्य to कृता in the MS is highly corrupt.
३. °वैतायां
४. व्यक्तभीः

रुद्राक्षान् भुजयोः शिरस्युरसि च प्रासादबद्धान् वहन्
कस्तूरीतिलकं च भालफलके कट्यां च पट्टाम्बरम्।
जाग्रन्मण्डलमण्डलाग्रविकटः सोऽयं भटग्रामणी-
रग्रे निग्रहणाय धावति रिपोः कोपारुणास्येक्षणः।।५०।।

तदनयोरतिसंरब्धयोरग्रतोऽपि न स्थातुं युक्तम्। [*परितोऽवलोक्य*] कथममी पौराः स्वैरालापिनोरनयोरन्तरालेऽन्तरायतयोपस्थिताः? तदत्राप्येतावदेव द्रष्टव्यम्। दिवसश्च मुहूर्तमात्रावशिष्टस्तेन सत्वरं साधयामः।

[*कतिचित्पदानि गत्वा पुरोऽवलोक्य*[1]]

'अहो, समयसमुचितोऽयमस्याः वेशः ! तथा हि–

अरुणवसना स्वाङ्के पङ्केरुहासनशालिनि
प्रकृतिजयिनोरेवं वक्षोजयोश्च निवेशिताम्।
नखरशिखरैस्तन्त्रीमारावयन्त्यविलम्बितै-
र्मदयति मनो नैषा केषामशेषगुणोज्ज्वला।।५१।।

तदनुचितमस्या रसपरवशतां विहन्तुम्।

[*पञ्चषपदानन्तरम्*]

का खल्वेषा ? सन्ध्यासान्निध्यधूसरतयाखिलाशामुखानामशक्तः खल्वेनामवगन्तुम्। हन्त, कार्यासक्तचित्ततया निजप्रेयसीं चन्दनमाला-मतिसन्निहितामपि नावधारयामि !

[*सहसोपसृत्य, गाढमालिङ्ग्यांसे बाहुमासज्य सचिबुकग्राहम्*]

प्रिये चन्दनमाले, क्षम्यतामयमपराधी ! [*सासूयम्*] किं ब्रवीषि–'भद्र, कुतो भवादृशेष्वपराधसंभावने'ति ? किमेवं वदसि ? पश्य–

---

१. **It seems that we have a *lacuna* between अवलोक्य and अहो।**

स्वप्नेऽपि किं स्मरसि सुन्दरि मेऽपराध-
मेनं विना, तदपि कार्यसमाकुलस्य।
क्षन्तव्यमेतदनवद्यगुणे ममाद्य
सद्यःप्रसादसुभगा विरला हि नार्यः।।५२।।

किञ्च–

क्व कार्यायत्तचित्तानां स्वपरज्ञानवासना।
प्रेयसीं पद्मिनीं भानुः कार्यतो न जहाति किम्।।५३।।

तदलमन्यथासंभावनया।

अपि नाम कुमुद्वतीवृत्तान्तः कश्चिदुपलब्धः ? किं वदसि– 'सा[1] हि मत्तः शरीरमात्रभिन्ने'ति ? तत्कथय कथय किमस्मन्मनोरथः सेत्स्यति न वेति। किं कथयसि– 'भवद्[2]वाग्वैभवस्य किमसाध्यमि'ति ?

[*सोत्साहं प्रतीचीमवलोक्य*]

कथमयमस्तगिरिमस्तकमधिरूढ एव भगवान् गभस्तिमाली ? संप्रति हि–

आलोच्य व्यसनेन कोकमिथुनं व्यग्रं ग्रहग्रामणी-
र्मीलन्तीं नलिनीं स्वमात्रशरणा[3]मह्नोगतिं चेदृशीम्।।
धिङ् मामित्यवधीर्य बन्धुरहितं स्वं, मस्तकेनाम्बुधा-[4]
वस्तादेः पतितः क्षणेन सहसा, मन्ये विधिर्दुर्जयः।।५४।।

अहो सुभगता सायंसमयस्य यदिह सर्वतः सोत्साहाभिः सीमन्तिनीभिः स्वपरिचारिकाः समयोचितं शिक्ष्यन्ते ! तथा हि–

---

१. न सा
२. किं तव भवद्°
३. °शरणो मह्नो°
४. मस्तकायाम्बुधा-

हञ्जे मञ्जरि पिञ्जरेषु परितः पारावतांश्चालय-
क्रीडाकीरकुलानि मालिनि निजस्थानेषु संस्थापय।
धूपैर्वासय वासवेश्म वशिनि त्वं चागुरूद्बोधितैः
पुष्पैरास्तरणानि शीलय लघु, प्राप्तः स्मरः[1] केशिनि।।५५।।

तदनुमोदय विधाय मित्रकार्यमचिरेणागन्तुम्। किं ब्रवीषि– 'शिवाः पन्थानः, सत्वरमागन्तव्यमि'ति ? [*गाढं परिष्वज्य, मुखमाघ्राय, परिक्रामन्निरूप्य*] अये गन्धर्वलोकमप्यतिक्रामति वेशवाटी !

यतः –

क्वचिद्वीणानादः क्वचिदपि मृदङ्गप्रतिरवः
क्वचित्पुष्पक्रीडा क्वचिदपि परीहासहसितम्।
क्वचिद् दूतीलापाः क्वचिदपि च मानग्रहकथा
क्वचित् कन्दर्पाज्ञा शिव शिव विचित्रो विधिविधिः।।५६।।

[*ऊर्ध्वमवलोक्य*]

कथमिदमाक्रान्तेव समन्ततः संतमसेन हरिपदहरिदन्तरालमामूलचूडकम् ? अधुना हि–

विश्वाह्लादनिदान[2]मन्धकरिपूत्तंसं निशानायकं
पीयूषद्युतिमत्रिनेत्रजनुषं कार्येण देवप्रियम्।
मत्सूनुं परिभूय भानुरधुना कुत्रेति पाथोनिधि-
र्मन्ये संतमसच्छलेन परितः सोऽयं समुज्जृम्भते[3]।।५७।।

–कथमन्यथा ताराकाराणि मौक्तिकानि दीपाकाराणि च रत्नानि परितः परीत्यैनमनुवर्तन्ते !

---

१. प्राप्तस्मरः
२. °निधान ?
३. समुज्जृम्भते

[*पुरतोऽवलोक्य*]

कथमयं स पथिकविश्रान्तिहेतुर्मलयवतीमन्दिरद्वारमन्दारवृक्षः[1]? तदितो[2] नातिदूर एव कुमुद्वतीसदनम्। तेन मुहूर्तमात्रमत्रैवालक्षित एव केनचिदप्यभिसारिका-कौतुकमालोकयामि, तावता च वयस्यागमनसंभावना समयेन।

[*इति किञ्चिदपसृत्य, तरुतलमालम्ब्य, कर्णं दत्त्वा*]

के पुनरमी मन्दं मन्दं मिथो मन्त्रयन्ते ? [*सप्रयत्नं परामृश्य*] कथममी ते कितवशिरोमणयो मणिकुण्डलप्रभृतयः कयापि कृतसंकेताः केतकवनिकायामालपन्ति। स्थाने खलु मया विलम्बितम्। तदिहैव स्थित्वा सकलमुपलक्ष्ये। विभावयामि तावद्विश्रम्भजल्पितमेतेषाम्–

तन्मध्ये **कश्चित्** –"सखे मकरन्द, वञ्चनशीला हि वारवनिताः। तदेतावत्यपि काले दत्तसंकेतापि नागच्छति श्रृंगारमञ्जरी। तत् किं केनापि धनिकेनावरुद्धे"ति।

अपरः – "कथमेवं भविष्यति"।

अपरोऽपि– "वयस्य मणिकुण्डल, कदाचिदियमालयान्तरेऽपि विटान्तरमभिसरेत्। तदिह किं वृथा क्लेशेन। वर्त्मैवास्ति 'कुतश्चिदायान्ती यान्ती वा बलादालिङ्ग्य वशीकर्तव्ये"ति।

[*सर्वान् ससाधुवादं तथा वर्तमानान् उपलक्ष्य, सस्पृहम्*]

वलितवलितग्रीवं यान्ती पुरः प्रियमन्दिरम्
चकितचकितव्याकोशाक्षं निरीक्ष्य दिशो दश।
त्वरितललितं विन्यस्यन्ती पदानि मदालसा-
न्यहह मृदुलालापा धन्यैः परं परिरभ्यते[3] ।।५८।।

---

१. **°प्लक्षः**

२. **°तपितो**

३. **परिलभ्यते (could also be the original reading).**

तदितः किञ्चिदपसृत्य परिशीलयामि शीलमेतेषाम्।

[तथा कुर्वन् साङ्गसंकोचम् कर्णं दत्त्वा]

कथं नूपुराराव इवाकर्ण्यते ? कथमभिनीत एवातिनिपुणया शृंङ्गारमञ्जर्या कितवोपरोधः ? को नामातिशेतामेतासु वञ्चनकलासु ! साधु, शृंङ्गारमञ्जरी, साधु !

न गणयति तमस्तमःप्रधानान्
पथि पथिकानपि चौर्यमात्रसारान्।
अपि निजजननीप्रियौ प्रतार्य
प्रणयिनमन्यमुपैति धन्यमेषा।।५६।।

तदिह किमकारणविलम्बेन। अनुसरामि तावदेनाम्।

[इति मन्द[1]मन्दमनुव्रजन्, निरूप्य]

कथंमियं छोटिकया कस्मैचित् समागमयतीव ? तत्त्वतः सर्वमवसेयम्। *[ऊर्ध्वमवलोक्य, सकुतूहलम्]* कः पुनरसौ विलासिवासकशृंखलाचालनमात्रदत्तोत्तरः सौधोदरमलंकुरुते ? आरोहयतु तावदियम्[2]। एनामनन्तरमन्तर्वर्त्मनैव सर्वमनुसन्धेयम्।

[इति निर्निमेषमवलोकयन्]

अहह, सेयं खलु—

सौवर्णसौधार्पितरत्नरोचि-
रूपा सिताङ्गी परिवेपमाना।
कथङ्कथञ्चित् कलिताग्रशृंखला
विलासिना वीतभयेन नीयते।।६०।।

---

१. मन्दमनुव्रजन् (One मन्दं dropped due to haplography).
२. तावदयम्

[*निरूप्य*]

कथमियमन्तर्वासगृहं प्रवेशितैव ? तदहमपि[1] प्रधानवर्त्मना[2]न्तः प्रविश्य निपुणं निरूपयामि। [*तथा कुर्वन् सर्वतोऽवलोक्य*] कथं संतमसमहिम्ना न केनचिदालक्षितोऽस्मि ?!

[*सौधारोहणं नाटयन् अङ्गनाङ्गस्पर्शमिवाकलयन्, द्रुतपदमनुधावन्, अञ्चले गृहीत्वा गाढमाश्लिष्य, केयं केयमिति संलपन्, अवधार्य*] कथमियं सारिका ? [*तां प्रति*] अयि, किं त्वमङ्गण एव पर्यटसि, पिहितद्वारं च वासगृहम् ? किं वदसि– 'कितवोऽयमातपवेदना अभिनीय[3] सायंसमय एव सौधोदरमाश्रित्य शेते स्म। अहमपि चाद्यात्र[4] प्रतारिता, गृहान्तर एव लौकिककथावर्णने तावन्तं कालमतिवाह्य, मञ्जुषिकामुखेन शृङ्गारमञ्जरीमनेनानायिता[5]मुपलभ्य, साम्प्रतमेवागच्छन्ती भवते[6]हमुप- लब्धास्मी'ति ? [*सान्तर्हासम्*] अयि सारिके, रसिकशेखरोऽप्येतादृश इति न प्रत्येमि। तदेहि, वासगृहवातायनवर्त्मना निश्चिनुवः। [*इति हस्ते तां गृहीत्वा तथा कुर्वन्नात्मगतम्*] साधु! रसिकशेखर साधु ! अयं खल्वधुना–

श्रमश्वसितसंकुचत्कुचमुदञ्चदेकावलि-
स्फुरत्तरमुरःस्थलं करकुशेशयेन स्पृशन्।
निजाङ्कविनिवेशितामलसलोलनेत्राञ्चलां
मृदुस्वनमुखाम्बुजामधरसीम्नि संसेवते।।६१।।

---

१. **तदिहमपि**
२. **अप्रधानवर्त्मना ?**
३. **वेदनामभिनीय ?**
४. **वाद्यत्र/ चाद्यत्र**
५. **°मनेनायिता (One ना dropped due to haplography)**
६. **भवतोह° ?**

[*प्रकाशम्*] सखि सारिके[1], सर्वं सत्यमेव। भवत्यापि यथोचितं कर्तव्यम्। साधयामो वयम्।

[*इति परिक्रामन् प्राचीमवलोक्य*] कथमयं सन्निहितोदयः कुमुदिनीबन्धुः ? तत्त्वरितं गच्छामि। [*इति गच्छन् सचिन्तम्*] अये किमयमद्यापि चिरयति प्रियवयस्यः ?

[*पुरतोऽवलोक्य*] कोऽयमवकुञ्चितमौलिरवनतवदनो मन्दं मन्दमुपसर्पति ? [*विभाव्य*] कथं प्रियवयस्यश्चन्द्रसेनः? [*सोत्साहम्*] सखे, सखेद इव। किमद्यापि प्रसादमनासादितैव[2] भवत्प्रिया ? [इयं][3]भवनवासवेदिका। तद् भवानास्तामत्रैव मुहूर्तमात्रम्, यावदहमचिरेणैव कालेनैतां प्रसाद्य, भवन्तमन्तः प्रवेशयामि।

[*तथा नाट्येन प्रविश्य कुरङ्गिकामुपलभ्य*]

हञ्जे, कुत्र पुनः कुमुद्वती ? किं वदसि– ' सौधमधितिष्ठती'ति ? तर्हि सत्वरं मामागतं निवेदय। किं वदसि– ''बिभेमि प्रबलकोपायास्तस्याः पुरतः स्थातुमपी'ति। गच्छाग्रतः' ?

[*ध्वनिज्ञापितनिजागमनः कुरङ्गिकया सह सौधमधिरुह्य, निरूप्य*]

कथमियमवधृतमदागमना मनागपि विलम्बमसहमाना मदायत्त[4]चित्ता सादर[5]मभ्युत्तिष्ठति ? [*द्रुतपदमुपसृत्य*] सखि, किमभ्युत्थानेन ? न हि सौहृदमुपचारम्। आस्यतामास्यतामत्रभवत्या। उपचारक्षमा च न ते गात्रयष्टिः। सम्प्रति हि–

---

१. **सारसिके**

२. **प्रासदमासादितैव**

३. **Supplied by the editor.**

४. **मनायत्त°**

५. **ससादर°**

क्षामा ते सुतनो तनुर्मुखमपि प्राभातिकेन्दुप्रभं
व्याकीर्णा कबरीभरी तिरयते बिम्बाधरं प्राञ्जलम्[1]।
नेत्राब्जे च निरञ्जने जन इव प्रेयानुदासीकृतो[2]
यो दासीभवितुं सदाभिलषति, ब्रूमो वयं कि त्विह।।६२।।

तत्किं कथयसि– 'भाव, अविदितनिजवयस्यवृत्तान्त इव कथं मामेव दोषमारोपयसी'ति ? अयि मुग्धे, नाहमारोपयामि, किन्तु[3] दुराग्रह[4] एव ते तथा कथयति। पुनः किं कथयसि– 'न मे कितवेन तेन कार्यम्' ? अय्यनात्मनीने !

अद्य यावदुपहस्यते त्वया[5]
यत्क्षण[6] प्रियवियोगिनी भवेत्।
तर्हि तत्कृतमहोपहासतो
नावधारयसि तेऽवधीरणम्।।६३।।

कथमियमवचनैवाधोमुखी तिष्ठति, अथवा अनिषिद्धमङ्गीकृतमेव। [*चेटीं प्रति*] हञ्जे कुरङ्गिके, कश्चिदस्मदनुचरो बहिरास्ते, स तावदाहूयताम्। [*विभाव्य*] कथमनया मन्दाक्षमभिनयन्त्या मन्दीकृत इवालक्ष्यते मानः ! [*सग्रीवाभङ्गमङ्गणमालोक्य*] हन्त, कथमयमागत एव सेवकवरः ! [*समन्दहासम्*] सखे, सत्यं तवैवापराधः। किमत्र प्रायश्चित्तम् ? किं वदसि– 'यदुपदिशति प्रियवयस्य' इति ? एहि, पादपतनादन्यदिह किं नाम प्रायश्चित्तं चित्तप्रसादहेतुरस्याः ? किं ब्रवीषि 'प्रणतोऽस्मी'ति ?

---

१. बिम्बाधरः प्राञ्जलः
२. प्रेयानुदासः कृतो
३. कि तु
४. दूराग्रह
५. त्वयाक्षणं
६. अद्य

[*सोपरोधं, नायिकां प्रति*] –

अयि परिहर कोपं कोपने, कोऽपराधः
प्रणमति निजनाथे, नाथते स्थातुमेव,
कुरु कुवलयनेत्रे पात्रमेनं कृपायाः
कलय निजकटाक्षैः, कान्तमुत्तोलयाशु।।६४।।

[*विभाव्य*]

कथमियमद्यापि सरोषमिव[1] तं पश्यति ?

[*पुनः सोपालम्भमिव*]

तरलाक्षि सरलचरिते
दयिते पतितेऽपि पादयोरपि ते।
दयते न हृदयमदयं
शयितेव च पक्षपातिता अपि[2] ते।।६५।।

[*विभाव्य*]

कथमनया चलितग्रीवमश्रूणि मुञ्चन्त्या प्रकटित एव प्रसादः, प्रसारितश्च स्वपाणिपल्लवः पतावस्मिन् ? [*सहर्षम्*] सखे, समुत्तिष्ठ, समुत्तिष्ठ, अनुगृहीतोऽसि प्रियतमया। [*निरूप्य*] कथमनया साङ्गसङ्कोचमङ्गीकृत एव सहासनोपवेशः प्रियतमेन ?

[*प्रीतिमवलोक्य, सोत्साहं, नायिकां प्रति*]

उन्मीलयन् कुमुदिनीं भवतीमिवाय-
मानन्दयन्नपि सखीरिव ते चकोरीः।

---

१. **सरोषमेव**
२. **पक्षपातितामपि**

प्राचीं प्रकाशयति पश्य सुधा[1]मरीचि-

रालम्बयन्निव[2] युवामिव[3] रत्नशय्याम्।।६६।।

वयस्य, त्वमप्यस्याः –

आरचय तिलकमलिके

कस्तूर्या लिख कुचतटे मकरीः।

अनुसर सरसिजनयना-

मेनामविनयमपास्य हास्येऽपि।।६७।।

सुकृतफलं हि सारसाक्षी[4]समागमः। यतः –

मणिमयशयनीये मन्मथाराधनान्ते

मुकुलितनयनान्ता मन्दमन्दं श्वसन्ती।

प्रियवदनवितीर्णामाददानाऽर्धवीटी[5]-

महह, सुकृतिनैव प्राप्यते साब्जनेत्रा[6]।।६८।।

---

१. सुद्धाः°

२. °यत्निव

३. युवामपि

४. सरसाक्षी° (सारसं = कमलम्)

५. A few letters of this verse are partially rubbed off. For this third pāda the reading प्रियवदनविकीर्णामाददानार्धशाटीम् (during विपरीतरति, due to bashfulness), could also be acceptable.

६. The reading of the last pāda of this verse is so gravely blurred that it is almost inpossible to decipher it exactly. However the reading accepted by us has the maximum likelihood of having been there in the MS.

तत् कथय, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

किं वदसि– 'किमतः परमि'ति ? तथापीदमस्तु–

सन्तः सन्तु समन्ततः परहिते सन्तोषिणः सन्ततं
राजानोऽप्यरिपक्षतक्षणपरा रक्षन्तु नित्यं क्षितिम्।
धीरोदारगुणाढ्यनायकयुता सद्वर्णरत्ना कृतिः
सत्कण्ठेषु च कालनाथसुकवेरेषा विभूषायताम्।।६६।।

तदास्यतां वयस्येन। वयमपि चन्दनभासिकाभवनमनुसरामः।।

[*इति निष्क्रान्ताः सर्वे*]

।। भट्टश्रीकालनाथविरचितोऽनङ्गसञ्जीवननामभाणः समाप्तः।।

(हस्तलेखपुष्पिका)

शुभमस्तु। संवत् १५४६ समये अग्रहायण वदि द्वितीया मङ्गलवासरे।।



श्लोकानुक्रमणिका



छन्दः सूची

।। समाप्ता चेयं छन्दस्सूची ।।